भारतीय इतिहास-लेखन की भूमिका

(AN INTRODUCTION TO INDIAN HISTORIOGRAPHY)

भारतीय इतिहास-लेखन की भूमिका

लेखक

ए० के० वार्डर

प्रोफेसर संस्कृत एवं अध्यक्ष
पूर्वी एशिया अध्ययन विभाग,
टोरेण्टो विश्वविद्यालय, कैनेडा

अनुवाद

प्रो० जगन्नाथ अग्रवाल

भूतपूर्व प्रोफेसर संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़

भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मन्त्रालय की प्रादेशिक भाषाओं में विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हरियाणा साहित्य अकादमी के तत्त्वावधान में प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1987
प्रतियां : 1100
मूल्य : रु० 30.00 (Rs. Thirty only)

मुद्रक : पवन प्रिण्टर्स, जे० 9, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रस्तावना

विश्वविद्यालय स्तर पर मानविकी तथा विज्ञान विषयों की पढ़ाई हिन्दी माध्यम से संभव हो सके, इसके लिए हिन्दी भाषा में सम्बद्ध विषय के मानक ग्रन्थों का उपलब्ध होना आवश्यक है। ऐसे ग्रंथों को उपलब्ध करवाने की योजना के अन्तर्गत अन्य हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों के साथ हरियाणा साहित्य अकादमी भी कार्यशील है। इस अकादमी द्वारा विभिन्न विषयों के अब तक अनेक ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित किए गए हैं जिनमें से अधिकतर के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ संस्करण भी निकाले जा चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक **भारतीय इतिहास-लेखन की भूमिका** इस शृंखला की 116वीं कड़ी है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रोफेसर ए० के० वार्डर द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक An Introduction to Indian Historiography का अनुवाद है। प्रोफेसर वार्डर टोरेन्टो (कैनेडा) विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक तथा पूर्वी एशिया सम्बन्धी अध्ययन विभाग के अध्यक्ष हैं। पुस्तक में लेखक ने भारतीय समृद्ध परम्परा को अपने परिपूर्ण वैभव में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पुस्तक के प्रथम भाग में भारतीयों के अपने इतिहास के बारे में अपनाए गए दृष्टिकोण की व्याख्या है और दूसरे भाग में लेखक द्वारा भारतीय इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। पुस्तक का हिन्दी अनुवाद संस्कृत के विद्वान प्रोफेसर जगन्नाथ अग्रवाल द्वारा किया गया है।

पुस्तक में आयोग द्वारा तैयार की गई शब्दावली का प्रयोग किया गया है ताकि देश भर में एक ही प्रकार की शब्दावली प्रयोग में आए। आशा है यह पुस्तक इतिहास के विद्यार्थियों एवं शोध-छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

शारदा रानी

शिक्षा मन्त्री, हरियाणा सरकार
एवं अध्यक्ष
हरियाणा साहित्य अकादमी

(नारायण शर्मा)

निदेशक
हरियाणा साहित्य अकादमी
चण्डीगढ़

आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ उन दो ग्रन्थों में से प्रथम के रूप में अभिप्रेत है जिनमें भारतीय इतिहास की रूप-रेखा देने का विचार है। वास्तव में दूसरे ग्रन्थ की प्रथम पाण्डुलिपि अपने आप में एक सम्पूर्ण रूप-रेखा के रूप में पहले लिखी गयी जिसकी प्रस्तावना में कुछ पृष्ठ भारतीय-इतिहास लेखन पर स्रोतों की विवेचना करने की दृष्टि से लिखे गए। जब इस पाण्डुलिपि को विद्यार्थियों में वितरण करने की दृष्टि से पुनरीक्षण का अवसर उपस्थित हुआ तो इतिहास-लेखन पर विचार-विमर्श ने अपने आप में एक लघु ग्रन्थ का आकार ग्रहण कर लिया। इसके दो मुख्य हेतु थे। प्रथम तो साधारणतया प्राप्त धारणा के विपरीत भारतीय परम्परागत-वृत्तान्तों में विविध प्रकार की ऐतिहासिक रचनाओं की विशाल राशि विद्यमान है। इसके सर्वेक्षण का अनुसरण करते हुए लेखक ने अपने आपको अत्यन्त अधिक विस्तृत गवेषणा के लिए निष्ठित पाया, जिसकी प्रत्याशा उसको आरंभ में नहीं थी। यद्यपि वह साधारणतया स्वीकृत विचार से सहमत नहीं था और जानता था कि इस प्रकार की लिखित रचनाओं की पर्याप्त राशि विद्यमान है जिसका विवेचन करने की आवश्यकता है, उसको इसके समस्त विस्तार का आभास तक नहीं था, जब तक कि उसने विधिपूर्वक इसका उचित सर्वेक्षण नहीं किया था। इस समय उसका विश्वास यह है कि जो कुछ वह प्रकाश में लाया है, वह भारतीय भाषाओं में उपलभ्य ऐतिहासिक रचनाओं का एक अत्यन्त सीमित चयन है। एक अज्ञात परन्तु संभवतः मूल ग्रन्थों की एक विशाल संख्या हस्तलिखित रूप में छिपी पड़ी है। अब वह केवल इतनी आशा करता है कि उसने पर्याप्त रूपरेखा प्रस्तुत कर दी है जिससे काल-गणना के क्रम से तथा भौगोलिक दृष्टि से उसके विस्तार का आंशिक अनुमान तथा भारतीय इतिहास ग्रन्थों की प्रकृति को

दर्शाया जा सके और प्राचीन वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक उनकी निरन्तर गति प्रदर्शित की जा सके। दूसरे अपनी 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (नाम की पुस्तक) में भारत के विषय में भारतीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए और इसी कारण एक ऐसा दृष्टिकोण जिसका आधार भारतीय ग्रन्थों के मूल स्रोत हों—और यह पुनः पाश्चात्यनिष्ठ स्वीकृत मत के विरुद्ध—लेखक एक ऐसे प्रयास के लिए कटिबद्ध हो चुका था जिसमें वह अपने इतिहास-लेखन के स्रोतों को पर्याप्त सम्पूर्णता से प्रदर्शित कर सके चाहे, किसी एक ग्रन्थ का विवरण कितना ही रेखाचित्र मात्र और स्थानापन्न क्यों न रह जाए।

भारतीय इतिहास-लेखन, पहले कभी भी किसी भी सर्वतः सम्पूर्ण सामान्य सर्वेक्षण में प्रस्तुतः नहीं किया गया। वास्तव में यहां तक बहुचर्चित कल्पना की गयी है कि इसका अस्तित्व ही नहीं है। अतः यद्यपि इस पुस्तक का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिए एक परिचयात्मक प्रवेशिका प्रस्तुत करने का था। यह पुस्तक साथ-साथ ही एक नितान्त भिन्न अर्थ में एक परिचय ही है। यह रचना प्रथम प्रयास है जो आधुनिक पाठकों का एक अज्ञात विषय से परिचय करवाती है, और प्रायः मौलिक अनुसंधान तथा परीक्षणीय अपितु क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रस्तुत करती है। इस विषय की दिशा में पूर्ववर्ती प्रयासों में हमें सर्वप्रथम टाड के नाम को सम्मानित करना चाहिए और तब पुराणों पर पार्जिटर के आधारभूत ग्रन्थ (Ancient Indian Historical Tradition, 1922) का उल्लेख करना है। कुछ एक लेखकों ने पृथक-पृथक ग्रन्थों के संस्करण प्रकाशित करते समय उनकी विवेचना की है, जबकि यहां हमें इतिहास-लेखन तथा राजनीति शास्त्र की भारतीय परम्पराओं को पुनः स्थापित करने का प्रयास करने के लिए काशी प्रसाद जायसवाल को स्मरण करना चाहिए। C. H. Philips द्वारा सम्पादित ग्रन्थ Historians of India, Pakistan and Ceylon (1961) में इस विषय के अनुसंधान का प्रस्ताव किया गया था परन्तु यह 'स्वीकृत मत' के कारण दूषित हो गया था (जिसकी पुनःपुष्टि 'तथ्य' के रूप में पृष्ठ 13 पर और फिर पृष्ठ 57 पर कश्मीर के अपवाद सहित की गयी) जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय पर अत्यन्त गिने-चुने लेख प्राप्त हुए। (इसका अधिक भाग भारत पर पाश्चात्य लेखकों की आधुनिक रचनाओं का वर्णन करता है।) कुल मिलाकर विद्यमान दाय की एक क्रमबद्ध आलोचना के स्थान पर केवल उसके कुछ खण्डों पर बिखरे हुए संकेत हैं। प्रत्युत वर्तमान लेखक को यह स्वीकार करने में प्रसन्नता है कि इसको एक परिषद् (1956) में भाग लेने के लिए निमन्त्रित किया जा रहा है, जिसका यह ग्रन्थ परिणाम है जिसने कि उसकी अपनी रुचि को एक ऐसे विषय में प्रचोदित करने में सहायता दी जो भारतीय साहित्य के इतिहास पर उसके अपने अनुसंधान की परिधि पर स्थित है। तब उसके विचार उससे

और आगे विकसित हुए, जितना कि प्रकाशित लेख में सामने आया। कारण यह है कि उसके अनुसंधान-लेख के अन्तिम संशोधन के स्थान पर जो कि परिषद् में प्रस्तुत किया गया था, उसका प्रारंभिक रूप ही भूल से छाप दिया गया। विशेषत: उसने इस ओर ध्यान दिलाया कि किस प्रकार काव्य ने (साहित्य-लेखन) इतिहास (ऐतिहासक लेखन) के क्षेत्र पर अनुचित आक्रमण किया, और इतिहास को प्रस्तुत करने में किस प्रकार ऐतिहासिक तथ्य के स्थान पर रसात्मक सत्य का आरोप किया। यह एक ऐसी उक्ति थी जिसका उद्धार प्रोफेसर फिलिप ने किया तथा अपनी भूमिका में इसका उल्लेख किया (पृष्ठ 4 तक) परिषद् के मण्डला-भोग में इस प्रारम्भिक वाद-विवाद के पश्चात् अन्ततः निर्माणात्मक अनुसंधान कार्य का एक स्थायी स्वरूप वी० एस० पाठक की पुस्तक Ancient Historians of India, 1966 में प्रकाशित हुई। पाठक ने प्रथम इस विषय का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया कि किस प्रकार पांच चुने हुए ऐतिहासिक काव्यों में (बाण, पद्मगुप्त, विल्हण, सोमदेव तृतीय तथा जयानक द्वारा रचित) ऐतिहासिक घटनाओं को यथार्थता से प्रकट किया गया है। इस प्रकार हमें उनकी अर्थव्यक्ति करने का साधन प्रदान कर दिया गया। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी उपलब्धि, ब्राह्मण-ऐतिहासिक परम्परागत वृत्तान्तों (विशेषत: भार्गव शाखा के) की अविछिन्न धारा का वैदिक साहित्य से लेकर इन मध्यकालीन लेखकों तक खोज करने तथा साथ ही उत्तरमध्यकालीन विकास विशेषत: राजपूत परम्परा द्वारा प्राप्त वृत्तान्तों के प्रस्तुत करने का है। उसके इस कार्य ने एक नींव उपस्थित कर दी है जिस पर निर्माण हो सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने उन पांच ग्रन्थों पर जिनका उसने मुख्य रूप में अध्ययन किया, उसके द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को संक्षेप बना दिया है, और तब यह प्रयास किया है अन्य एक शत (रचनाओं) की रूपरेखाएं साथ जोड़ दी जाएं। इसके साथ ही पुराणों की संक्षिप्त विवेचना की गयी है तथा बौद्धों और जैनों के समृद्ध परम्परागत वृतान्तों तथा प्राचीन और मध्यकालीन तमिल ऐतिहासिक ग्रन्थों के वर्णनों को भी जोड़ दिया है। दूसरे शब्दों में हमने भारतीय इतिहास-लेखन की सर्वांगीण झांकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यह आशा की जा सकती है कि इन विभिन्न लेखकों के उसी विद्या के अध्ययन जिनका श्रीगणेश प्रोफेसर पाठक ने किया है, शीघ्र ही हमारे देखने में आएंगे।

भारतीत इतिहास तथा इतिहास-लेखन के विषय पर लिखी गयी पुस्तक का प्रारंभ भारत (India) की परिभाषा से होना चाहिए। प्रासंगिक स्थिति को छोड़कर, यहां पर हमारा अभिप्राय भूगोल अथवा क्षणभंगुर राजनीतिक सीमाओं से नहीं है परन्तु इसके स्थान पर एक सभ्यता से इसके ऐतिहासिक विकास से है। आश्चर्य की बात है कि यह दृष्टिकोण भारत के आधुनिक इतिहास-लेखकों में

बहुत कम—यदि कभी हो भी—देखने में आता है। यह प्राचीन पौराणिकों का, तथा उनका जो अभी भी उनकी परम्परागत मान्यताओं का अनुसरण करते हैं, आरक्षित क्षेत्र है। प्रायः सबका सब वर्तमान 'भारतीय इतिहास' भण्डार जो आंग्ल भाषा में लिखा गया है, तथ्यात्मक रूप में और औचित्य से 'साम्राज्यवादी' इतिहास-लेखन कहा जा सकता है, ऐसी संज्ञा देने का तात्पर्य यह है कि यह भारत के विदेशी तथा अपरक्त आक्रमणकारियों तथा विजेताओं के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। भारतीय इतिहास का मानक साम्राज्यवादी वर्णन जो कि औपनिवेशिक युग में निर्मित किया गया, इस समय, प्रायः सब प्रकार की विचारधाराओं वाले भारतीय इतिहास-लेखकों द्वारा अत्यन्त विचित्रता से स्वीकार क्रिया जा चुका है, जिनमें मार्क्सवादी किसी से कम नहीं हैं (ये इस विषय में Hegel के विचारों को अपनाने वाले हैं। इनमें एस० ए० डांगे एक सम्मानित अपवाद हैं) इसके साथ ही अन्य सब देशों के विद्वान् इतिहास-लेखक, राजनीतिक विचारधाराओं की उपेक्षा करके भी इसी को स्वीकार करते हैं। इस साम्राज्यवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध भारतीय इतिहास के विषय में भारतीय **पौराणिक** दृष्टिकोण भारतीय सभ्यता की परम्परागता मान्यता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम दन्तकथाओं द्वारा प्रोक्त सभ्यता के उद्गम से लेकर भारत के विकास का दिग्दर्शन करते हुए हम सहस्राब्दियों की अवधि में स्वयं भारतीय इतिहास के लेखकों को प्रस्तुत करते हैं। यह आशा की जाती है कि एक उत्तर पुस्तक में अध्ययन के लिए एक नये ढांचे में भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन प्रस्तुत किया जाएगा।

प्रस्तुत पुस्तक की पृष्ठभूमि तथा परिचय के रूप में भारतीय सभ्यता के विषय में हम अपना मत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संक्षेप से लिखते हैं। तब हम भारतीय स्रोतों पर दृष्टिपात करते हैं जो उस इतिहास के सम्बन्ध में परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण को लेखबद्ध करते हैं। हमारा विवेचन अपने क्रम में अंशतः तिथि-गणना के अनुसार है, परन्तु अपने उत्तर-भाग में यह अधिक से अधिक प्रादेशिक होता चला गया है क्योंकि इतिहास-लेखन मध्यकाल में स्वयं प्रादेशिक बन जाता है। भारतीय द्वीप के प्रत्येक देश की इतिहास-लेखन की अपनी परम्परा है यद्यपि इसका स्रोत प्राचीन सार्वभौम पौराणिक इतिहास है। यहां स्वयमेव लागू किये गए एक नियंत्रण की ओर अवधान देना आवश्यक है: भारतीय पुराभिलेख यहां छोड़ दिये गए हैं, यद्यपि ये प्राचीन इतिहास-लेखन की एक महान् राशि सुरक्षित किये हुए हैं और उन विचारधाराओं का विस्तार करते हैं जो उन ग्रन्थों से उपलब्ध हैं जिनका यहां पर अध्ययन किया गया है, तथा वे उन्हीं परम्पराओं से सम्बद्ध हैं। उनको सम्मिलित कर लेना अपने सर्वेक्षण पर अत्यधिक बोझ लादना होगा, तथा साथ ही यह प्रश्न भी उठेगा कि पुराभिलेख

कितने प्रकार के हैं तथा अन्य ऐतिहासिक रचनाओं से उनका क्या सम्बन्ध है। समकालीन लेख्य पत्र होने के कारण भारत के आधुनिक इतिहास ग्रन्थों में उनका पर्याप्त पूर्ण रूप में प्रयोग किया जा चुका है, जबकि उनके लेखकों के दृष्टिकोण की उपेक्षा की गयी है और वे भविष्य में अनुसन्धान का एक समृद्ध क्षेत्र बनकर रह गये हैं।

टोरोन्टो

—ए० के० वार्डर

विषय सूची

अध्याय-1

भारतीय सभ्यता का परिचय

भारत, चीन तथा 'निकट-पूर्व' (मैसोपोटेमिया तथा मिस्र) की सभ्यताएं, साधारण दृष्टि से एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में विकसित हुईं। स्यात् हमें वंक्षु नदी के तट के साथ-साथ मध्य एशिया की चतुर्थ सभ्यता भी इनके साथ जोड़ देनी चाहिए। इशु-पूर्व तीसरी एवं चौथी सहस्राब्दी में जहां पर कि इन सभ्यताओं का उद्भव हुआ उन प्रदेशों के किसी प्रकार के भी पारस्परिक सम्पर्क, उन विस्तृत भूखण्डों के पार जिन में असभ्य जातियां निवास करती थीं, दूरवर्ती तथा असाक्षात् ही रहे होंगे। यद्यपि इन तीनों (अथवा चारों, यदि हम मिस्र तथा मैसोपोटेमिया को पृथक् मान लें, अथवा पांचों यदि मध्य एशिया को भी साथ जोड़ दें) भू-भागों में मनुष्यों ने एक ही प्रकार के कुछ ऐसे कार्य किये जिनके परिणामस्वरूप हम यह कहते हैं कि इन्होंने सभ्यता का विकास किया (उदाहरणत: नगरों का निर्माण, लेखन-कला का आविष्कार, जल के वितरण के नियन्त्रण द्वारा एक विशाल भूभाग की अर्थव्यवस्था का प्रबन्ध, जनसंख्या की द्रुतगति से वृद्धि इत्यादि)। उन्होंने अपनी मूलभूत शैलियों तथा शिल्पविधान के विस्तृत नियमों का सृजन करते हुए इन कार्यों को भिन्न-भिन्न विधियों से सम्पन्न किया, यद्यपि वे एक ही प्रकार की समस्या का समाधान कर रहे थे। इनके सीधे सम्बन्ध उत्तरकालीन तथा गौण थे जिनका आरंभ भारत तथा मैसोपोटेमिया के बीच, ईरान की खाड़ी के मार्ग से, व्यापार द्वारा हुआ, भारत और चीन के बीच किसी भी प्रकार का सीधा सम्पर्क स्थापित होने में दो सहस्राब्दी अथवा इससे भी अधिक समय लगा।

तथापि, सभ्यता के विकास में, किसी एक सर्वसाधारण आधार के विषय में हम इतना कह सकते हैं कि वह एक ही समय में बड़ी दूरी पर विस्थित स्थानों में इसकी उत्पत्ति का हेतु माना जा सकता है। 'निकट-पूर्व' तथा भारत में पुरातत्त्ववेत्ता 8000 वर्ष ई० पू०, एक नये पाषाण युग की क्रान्ति का वर्णन करते

हैं ।[1] नव-पाषाण-युग की इस अर्थव्यवस्था में अधिक उत्कृष्ट पाषाण-उपकरणों का प्रयोग शामिल था जिसके द्वारा आवासित जन-समूहों के आस-पास जहां वातावरण अनुकूल था और जहां पर गेहूं, जौ, चावल आदि पौधे तथा ऐसे पशु विद्यमान थे जिनको ग्राम्य बनाया जा सकता था, कृषि कार्य का विकास संभव हो सका। उत्तर-पाषाण युग की इस कृषि ने जिसमें खाद्य पदार्थ देने वाले ऐसे पौधे थे जो कि नियत तथा प्रचुर शस्य उत्पन्न करने में समर्थ थे, सभ्यता का आधार उपस्थित किया। चलते-चलते हम इस ओर भी ध्यान दें कि पूर्व तथा दक्षिण भारत में, उत्तर-पाषाण युग के विकास ने जिसमें पशुओं को पालतू बनाना तथा चावल (का उत्पादन) साथ-साथ थे, उत्तर की (सिन्धु) सभ्यता के प्रसार से पहले, एक स्वतन्त्र सभ्यता की उत्पत्ति नहीं की। पूर्व और दक्षिण भारत के सामने जल-वायु सम्बन्धी वह समस्या उपस्थित नहीं हुई जैसी कि उत्तर-पश्चिम (भारत) अथवा मैसोपोटेमिया, मिस्र, तथा उत्तरी चीन (और मध्य एशिया) के सामने।

जल-वायु की वह समस्या जिससे सभ्यता के उत्थान में संभवतः प्रेरणा प्राप्त हुई हो यह थी कि कतिपय उर्वरा भू-भागों में, कुछ महानदियों की उपत्यकाओं में उत्तर-पाषाण युग के जन-समूह कृषि करने में सफल नहीं हुए। जनसंख्या की क्रमिक वृद्धि के कारण जहां कहीं संभव हो, नये ग्रामों का बसाना, संभवतः वांछनीय हो गया, जबकि नदियों के मैदानों की उर्वरा विशेषतः बाढ़-वाली भूमि ने उनको आकर्षक बना दिया। परन्तु सिन्धु और इसकी सहायक नदियों तथा दजला और फरात, एवं नील तथा पीली नदी के जलप्लावन एक ऐसी प्राकृतिक शक्ति के रूप में उपस्थित होते जिनको प्रयोग में लाना एक छोटे जन-समूह के लिए बहुत बड़ा कार्य था। साथ ही साथ उसी प्रदेश में वर्षा के अभाव से कृषि कार्य अनियत अपि च असंभव हो जाता था, यदि नदियों के जल को प्रयोग में न लाया जाए। ऐसी परिस्थितियों में कृषि कार्य के सफल हो सकने से पूर्व एक ऐसी संस्था का सृजन आवश्यक था जो कि एक विशाल परिमाण में बांधों, नहरों तथा जलाशयों का निर्माण कर सके जिसके लिए गणित के प्रचुर ज्ञान, कुछ ज्योतिष (ऋतुओं को निश्चित रूप से परिलक्षित करने के निमित्त), तथा चल-जल यन्त्रविज्ञान का जानना पूर्व कल्पित था।

ऐसी संस्था से न तो उत्तर-पाषाण युग का ग्राम अभिप्रेत था और न ही जातिपरक समाज। अपितु एक राष्ट्र; एक शक्तिशाली तथा केन्द्रीय संस्था जिसका शासन एक विशाल भू-भाग पर हो और जिसके पास पर्याप्त जन-शक्ति

1. इसके लिखने के पश्चात् Allchin की The Birth of Indian Civilization (Penguin, 1968) ने हमारे मत को अधिक अच्छा बना दिया है।

हो जो बड़े-बड़े व्यवसाय निष्पन्न कर सकें। इस केन्द्रीकरण से, जिसका उद्देश्य एकमात्र सत्ता द्वारा एक विशाल भू-भाग में व्यवसायों की योजना बनाकर उनको कार्यान्वित करवाना था, भूतपूर्व छोटे-छोटे जनवर्गों की जो कि एक राष्ट्र के निर्माण के निमित्त सम्मिलित हुई, स्वतन्त्रता और स्वाधीनता में अवश्य ही विशिष्ट ह्रास हुआ। किसी भी प्रदेश में इस प्रगति के अनुक्रम के विषय में बहुत अल्प जानकारी उपलब्ध है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नदियों के साथ संघर्ष में पहले महत्तर ग्रामों की प्रवृद्धि हुई, (उदाहरणतः मैसोपोटेमिया में अल-उबैद संस्कृति। आर्मी के भारतीय प्रतिरूप पर पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अभी तक अधिक विचार-विमर्श नहीं किया।) सिंचाई की पद्धतियां निकाली गयीं, और प्रायः यथा समय अपने छोटे पड़ोसियों पर प्रभुत्व स्थापित करके उनको भी इसी निमित्त व्यवस्थित किया गया। क्रमशः ऐसा बड़ा ग्राम बढ़कर नगर बन जाता है, और एक राष्ट्र की राजधानी हो जाता है, तथा इसके निर्णयों को लागू करने वाली सैनिक सत्ता का आयतन अपि च इन निर्णयों के निर्माता प्रशासन का अधिष्ठान। उपलभ्य साक्ष्य से यह सुझाव मिलता है कि यह प्रभुसत्ता धार्मिक थी। शासक पुरोहित थे, जो कि अलौकिक शक्तियों का आह्वान, अपने सजातीय मनुष्यों को जो कि अपनी स्वतन्त्रता से इतना प्रेम करते थे कि वे इसे केवल मानुषो शासन को समर्पण करने के लिए उद्यत नहीं थे, बाधित करने के लिए करते थे। साथ ही साथ अनुमानतः ये पुरोहित ही थे जिन्होंने गणित तथा अन्य विज्ञानों और प्रशासन के उन कार्यों के लिए जो आर्थिक उन्नति की योजना बनाने के लिए आवश्यक थे, लिखने की कला का परिशीलन किया। संभवतः यह सब कुछ धर्म के संरक्षण में सम्पन्न हुआ। सभ्यता के विकास का अर्थ यह था कि शासन करने वालों का एक वर्ग शेष जनसंख्या से पृथक कर दिया जाए, तथा वे अपने लिए कुछ ऐसे अधिकार आरक्षित कर लें जो कि शेष जनता ने उनको अर्पण कर दिये थे। यह चाहे किसी भी विधि से किया गया हो, (और उत्तरवर्ती कालों तक इस विषय में हमें अधिक ज्ञान नहीं है) वह अन्तर्निहित समस्या, जो कि तत्काल से ही सभी सभ्यताओं को आक्रान्त किये हुए, बराबर बनी रही, यही है स्वतन्त्रता की समस्या। एक अर्थ में किसी भी सभ्यता का इतिहास इस समस्या का इतिहास है, और भारत का इतिहास, विशेषकर स्वतन्त्रता के विषय में है।

भारत में सभ्यता सिन्धु की घाटी में विकसित हुई, और शीघ्र ही गंगा की उपरितन घाटी की सीमाओं तक तथा गुजरात (प्राचीन सौराष्ट्र) के पार दक्षिण में फैल गयी। आर्य जाति जिसने लगभग 1600 वर्ष ई० पू० मध्य एशिया से भारत पर आक्रमण किया, क्रमशः भारतीयों के साथ मिलजुल गयी। अधिकांश विकास के पश्चात् (लगभग 1000 वर्ष ई०-पू० के अन्तर) लोह-युग के आरम्भ के साथ ही जिसके शिल्पविज्ञान द्वारा गंगा के जंगलों को काटकर साफ करना,

प्राय: संभव हो सका, यह प्रादुर्भूत सभ्यता गंगा की उपत्यका से नीचे पूर्व की ओर फैली और तदन्तर विख्यात 'दक्षिणा-पथ' अर्थात् दक्षिण मार्ग से दक्षिण में इसका आधुनिक आंग्ल-भारतीय नाम दक्किन (Deccan) है। यह मार्ग उज्जयिनी से ठीक दक्षिण में पर्वतों के बीच में होकर सीधा प्रतिष्ठान पहुंचता था। समस्त भारत पर फैल चुकने के पश्चात् यह सभ्यता समुद्र के पार सिंहल में (इषु-पूर्व पांचवीं शताब्दी से लेकर आगे तक), दक्षिण-पूर्वीय एशिया तथा इण्डोनेशिया और अन्यत्र फैली, एवं स्थल मार्ग से मध्य-एशिया में जिसमें सिनक्यांग (Sinkiang) भी शामिल है, सर्वत्र।

मध्य-एशिया के पश्चिम भाग में (पार्थिया, तथा वंक्षु की उपत्यका) ई० पू० तीसरी शताब्दी से लेकर आगे तक भारतीय सभ्यता का ईरान की सभ्यता से संमिश्रण हो गया। पूर्वी भाग में इसका सामना चीनी सभ्यता से हुआ, जिससे यह एक ही समय में भारतीय चीन (Indo China) में समुद्र के मार्ग से (इषु संवत्सर की प्रथम शताब्दी में) मिली। चीन में बुद्ध धर्म का सफल प्रचार इषु संवत्सर की द्वितीय शताब्दी से आरंभ होता है। इस कार्य के लिए संचार के मार्ग थे, वंक्षु से (Wie) उपत्यका (तथा पीली नदी) को जाने वाला स्थल मार्ग तथा गंगा (ताम्रलिप्ति) से यंगसी (Yangtze) को जाने वाला समुद्र का मार्ग सभ्यताओं के बीच इस सम्पर्क के परिणाम अत्यन्त मनोहरी हैं, यद्यपि भारतीय इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा की परिधि में इनको लाना कठिन है। मूलरूप में ईरान के रहने वाले भी उसी जाति के थे जिसके आर्य। इनकी कुछ परम्पराएं सामान्य थीं। संभवत: आर्यों के भारत में प्रवेश करने के पश्चात् उनकी सभ्यता वंक्षु की उपत्यका में समृद्ध हुई, और तब पश्चिम की ओर मैसोपोटेमिया में फैली और उसी की सभ्यता में संमिश्रित हो गयी। उनके धर्म (जराथुष्टर के मत) में कई एक ऐसे विशेष लक्षण थे जो कि भारतीय ब्राह्मण परम्परा से समानता रखते थे।

चीन में शान्तिपूर्ण सम्पर्क द्वारा बुद्ध-धर्म की विस्तृत स्वीकृति, दो सर्वथा भिन्न सभ्यताओं के संमिश्रण के अत्यन्त अपूर्व निदर्शनों में से एक है। बुद्ध धर्म चीनी धार्मिक परम्परा में पूर्णरूप से विलीन हो गया, परन्तु साथ ही चीनी बुद्ध-धर्म भारतीय बुद्ध-धर्म से नितान्त भिन्न बन गया। हम यह कह सकते हैं कि भारतीय बुद्ध-धर्म अधिकतर एक दर्शन है, जबकि चीनी बुद्ध-धर्म अधिकतर एक धर्म है। यहां पर इतना और कहा जा सकता है कि भारत, चीन तथा ईरान में एक भांति की अनियन्त्रित जिज्ञासा तथा सब मतमतान्तरों के प्रति सहिष्णुता की प्रवृत्ति व्यापक रूप में विद्यमान थी। इन तीनों विश्वास-धाराओं में धार्मिक सहिष्णुता प्राय: स्वत: सिद्धमानी जाती थी। यह उस धार्मिक परम्परा से अतिशय भिन्न थी जिसका प्रसार पश्चिम में हुआ। परन्तु यह इन तीनों स्वतन्त्र

सभ्यताओं का इतना सामान्य लक्षण नहीं था जितना कि एक अतिशय विशिष्ट लक्षण जो कि पश्चिमी सभ्यता में विकसित हुआ। (यह था) धार्मिक असहिष्णुता तथा जिज्ञासा का दमन।

भारतीय इतिहास के घटना-क्रम को समझना शायद इतना सरल नहीं है, क्योंकि हम लगभग 3000 वर्ष ई० पू० में सभ्यता के उद्भव से लेकर आज तक पांच सहस्रवर्षीय समय अथवा पचास शताब्दियों के समय का पर्यालोचन कर रहे हैं। इस विशाल परिप्रेक्ष्य के कारण उन कतिपय आधुनिक लेखकों के वर्णनों में विकार आ गये हैं, जिनकी प्रवृत्ति इस प्रकार की पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक घटनाओं तथा समय की अवधियों को नगण्यता तक घटाकर देखने की हुई है। यद्यपि भारतीय इतिहास के संपूर्ण प्रवाह की रूपरेखा अवश्यमेव द्रुत तथा स्थूललेख के रूप में होगी। हम यहां इतना सुरक्षण अवश्य करेंगे कि संक्षिप्त वर्णन का अभिप्राय यह नहीं कि उनका महत्व क्षणिक है। प्रत्येक शताब्दी और वस्तुतः इससे भी छोटी अवधियों को यह समझना चाहिए कि उनका अध्ययन किया जाना उनका स्वतः-सिद्ध अधिकार है और वह उनके (महत्त्व) के लिए ही किया जाना चाहिए। न कि केवल एक अस्थायी सन्दर्भ के रूप में जिसका कार्य इससे अधिक कुछ नहीं कि वह आगे आने वाले (विषय को समझने के लिए) मार्ग प्रस्तुत करे। कुछ अवधियों की राजनैतिक घटनाओं के लिए हमारे पास न्यून जानकारी बची है। यह बात उनकी त्वरित उपेक्षा का कारण बन सकती है परन्तु भारतीय इतिहास के प्रायः सभी कालखण्डों के लिए हमारे पास साहित्य, कला और दर्शन की एक सम्पन्न सांस्कृतिक सम्पत्ति विद्यमान है जिसके अध्ययन से विशिष्ट समय में भारतीय सभ्यता का वास्तविक सार, झटपट हमारे सामने आ जाता है। इनके द्वारा हम विभिन्न अवधियों के जीवन और अनुभवों का अवगाहन कर सकते हैं और उनके महत्त्व का अनुभव करने लगते हैं। दुर्भाग्यवश, इतिहास लिखने वालों ने प्रत्येक अवधि के लिए इन स्रोतों को इकट्ठा करने का बहुत अल्प प्रयास किया है। परन्तु यह कार्य पूर्णतया साध्य है, यद्यपि यह कठिन और दीर्घकालीन है, और निस्सन्देह यथा-समय सम्पन्न हो जायेगा। इस अन्तर में हमें अपरिपूर्ण राजनैतिक इतिहास की पुस्तकों द्वारा मार्ग से भटक नहीं जाना चाहिए।

यहां पर भारतीय इतिहास की प्रमुख अवधियों के तिथिक्रम की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना लाभप्रद होगा—

तिथिक्रम की रूपरेखा

('घटाने' का चिह्न = ई० पू० 'जोड़' + का चिह्न = ई०)

—8000 निकटपूर्व तथा भारत में उत्तर-पाषाण युगीन क्रान्ति-

सिन्धु प्रदेश में उत्तर-पाषाण युग कालीन ग्राम (बोलान द्वार के निकट तथा सिन्धु के निचले भाग के निकट, कोयटा तथा आर्मी सभ्यताएं) जब कच्ची ईंटों के घर थे और फसलें उगाई जाती थीं, एवं कर्णाटक (ब्रह्मगिरि इत्यादि), असम और संभवतः दक्षिण मगध में भी ।

—3000 नगरों का निर्माण—जिसका परिपाक (आर्मी सभ्यता के निकट) सिन्धु के निचले भाग पर मोहृजोदड़ों तथा इसकी पूर्वी सीमा इरावती (रावी) पर हड़प्पा में हुआ । कांस्य-युग (इन नगरों के नाम समीपवर्ती आधुनिक ग्रामों के नाम हैं । एक विदूरस्थ संभावना यह है कि ऋग्वेद संहिता, VI, 275 में वर्णित हरियूपिया जिस स्थान पर आर्यों ने वरशिखों तथा व्रीचिवन्तों को पराजित किया, हड़प्पा था ।)—साम्राज्य ! (इस सभ्यता की चरम सीमा—संभवतः लगभग—2350, मैसोपोटेमिया के साथ व्यापार इसका विशिष्ट लक्षण) ।

—2000 पश्चिम के पर्वतों में पशु चराने वाली (अस्थिर निवासी) जातियों (आर्यों ?) के सम्बन्ध में साक्ष्य, जो कि ग्रामों पर आक्रमण करके इनको जला रही थीं (इससे पूर्व ईरान में भी यही हुआ) ।

—1600 सिन्धु-सभ्यता का पतन जो कल्पना के अनुसार आर्यों के आक्रमण से हुआ (जिसके विषय में ऋग्वेद में धुंधली स्मृतियां हैं) तत्पश्चात् आर्य गणों में जो कि अब भारत में बस गये थे, सभ्यता का प्रसार—उत्तर-भारत के गणतन्त्र और राज्य तथा नये नगरों का निर्माण (विशेषतः गंगा के उत्तर-भाग में हस्तिनापुर का)

—तेरहवीं शताब्दी चन्द्रवंश की पौरव शाखा का (सम्राट्) संवर्ण समस्त आर्य राजाओं पर साम्राज्य स्थापित करता है । इस साम्राज्य में ब्राह्मण सभ्यता की उत्पत्ति हुई जिसको पीछे से ब्राह्मण परम्परा में प्रायः आदर्श अथवा श्रेण्य समाज समझी जाने लगी, कम से कम मानवता के वर्तमान युग में । (चरमोत्कर्ष का बिन्दु—नवमी शताब्दी के आसपास ह्रास आठवीं में या इसके पश्चात्) लोह युग का आरंभ 1000 ई० पू० के आसपास हुआ, और ऐसा प्रतीत होता है कि यह परम्परागत विश्वासों को स्मृतियों का

रूप देने का अन्तिम पड़ाव था (संभवतः यह उन परिवर्तनों की प्रतिक्रिया थी जिनके उत्पन्न होने का इससे भय था)

—700 पौरव साम्राज्य का विघटन हो जाता है। सोलह(वस्तुतः इससे अधिक) जनपदों का उत्थान और शासन-व्यवस्था में अनेक प्रकार के परीक्षात्मक प्रयोग। भारतीय दर्शन का सर्वाधिक सृजनात्मक समय (बुद्ध समेत श्रमण-वर्ग)

— 500 मगध का साम्राज्य—सुदूर दक्षिण समेत (द्रविड देश) भारत का सांस्कृतिक एकीकरण तथा सिंहल को उपनिवेश बनाना—काव्य साहित्य का उद्‌भव और विकास।

—द्वितीय शताब्दी सातवाहन साम्राज्य (मगध का ह्रास)

+प्रथम शताब्दी कुषाण साम्राज्य (दक्षिण और उत्तर में दो महान् साम्राज्यों का समय)

+तृतीय शताब्दी सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विकास, विशेषतः विकेन्द्रीकरण तथा स्थानीय स्वतंत्रता (सामन्तों की स्वतंत्रता—शक, आभीर, इक्ष्वाकु इत्यादि) के पश्चात् दोनों साम्राज्यों का ह्रास— शासकीय अधिकारों सहित भूदान की प्रथा। उत्तर में अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य। अपि च कुछ प्राचीन गणराज्य कुछ समय के लिए पुनर्जीवित हो रहे थे। केरल में गणराज्य।

+चतुर्थ शताब्दी वाकाटक-गुप्त नवीन साम्राज्य प्रणाली (दक्षिण तथा उत्तर के साम्राज्य विवाह-सम्बन्ध द्वारा संगठित) सुदूर दक्षिण में पल्लव वंश।

+षष्ठ शताब्दी गुप्त साम्राज्य की अवनति तथा सामन्तों में आधिपत्य के लिए संघर्ष। कान्यकुब्ज के मौखरी सबसे अधिक सफल। उनके उत्तराधिकारी पुष्पभूति (हुए)। वाकाटक चालुक्यों द्वारा विस्थापित। पश्चिम में मैत्रक स्वतन्त्र। सिन्धु एक बौद्धवंश के अधीन। गुप्तों के वंशजों द्वारा पूर्व में संघर्ष जारी। काश्मीर में +सातवीं शताब्दी से कारकोट वंश।

+आठवीं शताब्दी उत्तर-भारत के अधिक भाग पर गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य (कान्यकुब्ज राजधानी) परन्तु गौड़ (=मगध तथा संलग्न देश) पालों के अधीन स्वतन्त्र रहा। चालुक्यों

को उनके सामन्त राष्ट्रकूटों ने पराक्षिप्त किया। अरबों ने सिन्धु जीता तथा जनसंख्या का धर्म परिवर्तन बल पूर्वक सम्पन्न करने का प्रयास किया (इस्लाम अथवा मृत्यु यही विकल्प दिया जाता था)। गुर्जर-प्रतिहारों ने इनको रोका। उत्तर-पश्चिम में यादव वंश के अधीन जागुड़ और शाहि वंश के अधीन कपिशा राजपूतों की उत्पत्ति।

+-आठवीं शताब्दी गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य (कान्य-कुब्ज राजधानी)। राष्ट्रकूट-उपरोक्त एक चालुक्य द्वारा प्रक्षिप्त। उत्तर में परमार, चाहमान, गुहिल पुत्र (मेदपाट), चन्द्रात्रेय, कलचुरि और चालुक्य—ये सब स्वतन्त्र (थे) (तथैव पाल और शाहि)--सामन्तों में असहयोग। नवमी शताब्दी से अग्रवर्ती समय पर्यन्त तुर्क (मुसलमानों) के आक्रमण। यादव अभिभूत होकर (जैसलमेरु) राजस्थान में आश्रित। दशमी शताब्दी के अन्त में, इन क्रूर तुर्क संग्रामों में, शाहिसाम्राज्य पादाक्रान्त (भारतीय-इतिहास लेकर इनको इतना हिंस्र मानते हैं जिनका पूर्व-निर्देशन ही विद्यमान नहीं) पतन की ओर अग्रसर गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य पर अवस्कन्द किये जाने लगे। दक्षिण में चोल साम्राज्य। कलिंग में केशरी (राजा)।

+ग्यारहवीं शताब्दी उत्तर में छोटे-छोटे राज्यों की नवीन प्रणाली ने स्थिरता प्राप्त की। (स्वयं कान्यकुब्ज में एक राष्ट्रकूट और उसके तत्काल पश्चात् गाहड़वाल वंश) बारहवीं शताब्दी में सेनों ने पालों का स्थान लिया। बारहवीं शताब्दी के अन्त में और तेरहवीं के आरंभ में तुर्कों ने गाहड़वालों तथा सेनों का समूल नाश कर दिया, और उत्तर-भारत के आरपार एक सैनिक पथ स्थापित कर दिया। इस्लामी रूप देने की नीति के अनुसार अपरिमित सांस्कृतिक विनाश। उत्तर भारत में बुद्ध-धर्म को वस्तुतः मिटा ही दिया गया। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में यादव, आन्ध्र प्रदेश में काकतीय, कलिंग में गंग वंश और कर्णाटक में होयसल वंशों का अस्तित्व।

+चौदहवीं शताब्दी उत्तर (भारत) के अधिक भाग पर तुर्क साम्राज्य

	स्थापित (राजस्थान, जेजाक, तीर, नेपाल, आसाम, कलिंग आदि को छोड़कर), दक्षिण पर आक्रमणों का आरम्भ, परन्तु भारतीय सभ्यता की रक्षा के लिए 1336 में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना। सोलहवीं शताब्दी में, हिन्दू और मुसलमानों को मिलाने और अपने भारतीय साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने का अकबर का प्रयास जिसका मुसलमानों के धर्मोन्माद द्वारा विरोध तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में असंख्य हिन्दू विद्रोहों के कारण जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, तेरहवीं शताब्दी में मराठों का विद्रोह था, तुर्क साम्राज्य का ह्रास।
+अठारहवीं शताब्दी	भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली मराठा साम्राज्य। जैसे ही तुर्क साम्राज्य का पतन होता है, आंग्ल जाति बंगाल ग्रहण कर लेती है। (मराठों और आंग्ल देशीयों में दीर्घ संघर्ष का आरम्भ होता है)।
+ उन्नीसवीं शताब्दी	औपनिवेशक आंग्ल-साम्राज्य (एक नये प्रकार की सामन्त-प्रणाली)।
+बीसवीं शताब्दी	स्वतन्त्रता संघर्ष का परिणाम—गणतन्त्र (की स्थापना) मुसलमान सिन्धु और पूर्व-बंगाल में समाकृष्ट।

भारतीय इतिहास के अध्ययन अपितु भारत से सम्बद्ध किसी भी वस्तु का आरंभिक परिचय देते हुए, उन असंख्य शंका स्थानों का प्रबोधन, जो विशेषत: पुस्तकालयों में विद्यार्थी के सामने आते हैं, आवश्यक है। ऐसी रचनाओं में भी जो देखने में विद्वत्तापूर्ण तथा मानवीय प्रतीत होती है, कूट-कथन और मिथ्यावर्णन प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं। योरप के निवासियों एवं तत्कुलोत्पन्न व्यक्तियों में एक दुराग्रह यह है कि एशिया के रहने वाले तथा प्राच्य देशीयों में कुछ विचित्रता है जो उनको योरप वालों से विभिन्न करती है। यह कोरा दुराग्रह है, जिसका पुष्टीकरण मिथ्या विश्वासों द्वारा किया जाता है और जिसका दुष्प्रयोग प्राय: राजनैतिक उद्देश्यों प्रमुखत: साम्राज्यवाद के लिए किया जाता है। उपनिवेशों पर शासन करने वालों का भारत के विषय में झूठे विचारों के प्रसार में बहुत विशाल व्यवस्थित लाभ था। इसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि इस देश के लिए विदेशियों का शासन सर्वश्रेष्ठ था। इसके फलस्वरूप उन्होंने ऐसे ऐतिहासिक साहित्य तथा समाचार पत्रकारिता को प्रोत्साहन देने की ओर ध्यान दिया, जिससे यह सूचित होगा कि भारतीय स्वशासन चलाने में पूर्णतया अयोग्य हैं। सबसे बढ़कर एक मिथ्यावाद यह है कि भारत में जो कुछ भी गुण हैं, वह

योरप का पूर्वकालीन उपनिवेश बनने का परिणाम है, तथा यह कि भारतीय इतिहास के आरम्भ में यहां योरप की एक उज्ज्वल औपनिवेशक सभ्यता थी जिसके पश्चात् अविरत ह्रास होता आया है, क्योंकि सभ्य अंश भारत के आदि-कालीन सागर में मिलकर क्षीण हो गया। इस मिथ्यावाद में योरप के निवासी वे आर्य हैं जिनको कुछ व्यक्ति योरप से आये हुए प्रतिपादित करते हैं। इस बात की अधिक संभावना है कि आर्यों का प्रागैतिहासिक निवास-स्थान मध्य एशिया के घास के मैदानों में था, परन्तु इस मिथ्या धारणा के विरुद्ध प्रमुख आपत्ति इसका निराधार सिद्धान्त है कि सभ्यता प्रशासनिक योग्यता, विज्ञान इत्यादि जाति सम्बद्ध विशेषताएं हैं जो कि कुछ एक मानव जातियों में स्वत:सिद्ध हैं। वस्तुत: इस संसार में एक ही मानव जाति अथवा वर्ग है। जिन रोचक लक्षण विशेषों का वर्णन किया जाता है, वे ऐसे सांस्कृतिक विकास हैं जो कि मानव समाजों के इतिहास में अवसर प्राप्त होने पर घटित होते हैं।

एशिया के ह्रास अथवा भारत के परिवर्तन-रहित होने के जड़-भाव को मिथ्या कल्पना से अधिक विशिष्ट यह कल्पना है कि इस संसार और इसकी नि:सार विभूतियों के प्रति भारत की उत्कृष्ट वितृष्णा है। भारतीयों को दार्शनिकों अथवा रहस्यवादियों की एक जाति माना जाता है जो कि मनुष्य की आकांक्षाओं तथा भावावेशों के प्रति उदासीन है तथा इसमें रहने के लिए अयोग्य होने की अपेक्षा इससे विरक्त है। यद्यपि भारत में इस प्रकार के आचार्य हो चुके हैं, उनकी सफलता का वर्णन अतिशयोक्ति से किया गया है। इसलिए भारत के इतिहास का अध्ययन करने वाले को अध्ययन करते समय आलोचनात्मक होना चाहिए। उसको इतिहास लेखक के दृष्टिकोण का अवगाहन करने का प्रयास अवश्य करना चाहिए और उसमें से वाग्मिता को मिटा देना चाहिए।

अध्याय-2

सभ्यता के उद्भव के विषय में भारतीय परम्परागत मत

अब हमारे पास सिन्धु-सभ्यता के अभिलेखों की, जो कि पढ़े नहीं जा सके, कुछ मात्रा तथा उभरवी उकेरी के कुछ चित्रित दृश्य हैं जो इसके साहित्य तथा विश्वास-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। संभवत: इसकी कुछ विश्वास-परंपराएं उत्तरकालीन आर्य साहित्य (संस्कृत तथा प्राकृत) में शेष रह गयी हैं। जो भी हो उत्तरोक्त (साहित्य) सभ्यता के उद्भव तथा आद्यतम राजवंशों के वर्णन, सबके सब विश्व की उत्पत्ति अथवा सृष्टि या इससे भी अधिक विश्व तथा समाज की, पर्याय से सृष्टि और प्रलय के चक्र की मिथ्यैतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करता है। बौद्ध तथा ब्राह्मण स्रोत, साधारणतया सृष्टि का विकास चक्र-क्रम से होना स्वीकार करते हैं। बौद्धों के अनुसार यह सब एक प्राकृतिक क्रम है जो किसी अतिमानुष व्यक्ति या व्यक्तियों पर आश्रित नहीं है। जब यह ठोस पृथ्वी बन चुकती है (विकास-क्रम एक प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ का स्थूल पदार्थ में जम जाना है)। इसके ऊपर जीवित प्राणी प्रकट हो जाते हैं और खाद्य पदार्थ इकट्ठा करने वालों का एक आदर्श समाज जो पृथ्वी की प्राकृतिक उपज पर निर्वाह करता है, अस्तित्व में आता है। एक सार्वजनीन समिति के अतिरिक्त, न कोई शासन, न राजा, न शिष्ट जनसत्ता, न पुरोहित वर्ग ही था। ये सब, समाज के वर्णों में विभक्त होने के साथ-साथ, पीछे से विकसित होते हुए दिखाये गये हैं (बौद्ध आदि-समाज के वर्णरहित होने से एक विशेष परिणाम निकालते हैं, क्योंकि वे ब्राह्मणों के जो कि उनके अपने समय का कुल क्रमागत पुरोहित वर्ग था, विशेष प्रभुत्व तथा अधिकारों को अस्वीकार करते हैं)। अपि च कोई परिश्रम भी नहीं था (केवल खाद्य पदार्थ इकट्ठा करना होता) और न ही व्यक्तिगत संपत्ति। कोई दण्ड्य-अपराध नहीं थे, न ही उद्दण्ड-कर्म (क्योंकि झगड़ने का कोई विषय ही नहीं था) और इसी के परिणामस्वरूप संभवत: न ही काम-वासना थी (उद्दण्ड व्यवहार के

अभाव में प्राणी अनिश्चित प्रकार से जीवन-यापन कर रहे थे। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि तब तक उन्हें सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता ही न थी)। कोई धर्म भी नहीं था। सदाचार के भावों का विकास केवल तब आरम्भ होने लगा जब इस अपराध-रहित अवस्थिति में परिवर्तन आने लगा, जिससे आचरण की समस्याएं उत्पन्न हुईं। निष्कलंकता का ह्रास तब आरम्भ हुआ जब किसी को खाद्य-पदार्थ इकट्ठा करने के लिए नियमित रूप से भ्रमण के कष्ट से बचने के लिए खाद्य संग्रह का विचार आया। जब कुछ व्यक्तियों ने विशाल संग्रह बना लिये तो इसके परिणामस्वरूप न्यूनता अस्तित्व में आयी। तब समिति ने कानून बनाकर व्यक्तिगत सम्पत्ति का आविर्भाव किया और उत्पन्न करने वाली भूमि को अपने सदस्यों में बांटकर सीमाएं निर्धारित कर दीं। जंगली अन्न इकट्ठा करने के स्थान पर अब मनुष्य कृषि द्वारा अपने निजी क्षेत्रों में इसका उत्पादन करने लगे। कृषि-व्यवसाय का आविष्कार हो चुका था। अन्न-संग्रह से पहले अनुमानतः किसी लता या केवल इसके पत्तों के स्थान पर, दानों यथार्थतः चावलों के खाने के फलस्वरूप काम-वासना प्रकट हो चुकी थी। व्यक्तिगत संपत्ति के अस्तित्व ने चोरी को जन्म दिया जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे के भण्डार से चावल उठा ले जाता था। समाज को चोरों से बचाने के लिए समिति ने एक राजा को चुना जो उनकी भर्त्सना करे और यदि आवश्यक हो तो उनको निर्वासित कर दे। राजा एकाग्रमन होकर प्रशासन कार्य कर सके, इस हेतु उसको दूसरों की उपज में से एक भाग देकर स्वयं अन्न उत्पन्न करने की आवश्यकता से मुक्त कर दिया गया। राज्य शासन की इस संस्था से युद्ध करने वाले अथवा अभिजात जनों का एक वर्ग अस्तित्व में आया जो दमन के साधनों—प्रशासन कार्य करता था। कुछ व्यक्ति अपना कर्त्तव्य-पालन भली-भांति करते थे और कुछ निन्द्य रूप में। काल-क्रम से प्रत्येक प्रकार के सामाजिक दुष्कर्मों—हिंसा, हत्या तथा युद्धों का आविर्भाव हुआ। पौरोहित्य के विषय में कहा जाता है कि इसका उद्भव तब हुआ जब कुछ व्यक्ति शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तथा चिन्तन करने के लिए भ्रष्ट समाज से पृथक् हो गये, परन्तु कालान्तर में उन्हीं में से कुछ प्राचार्य बन गये जिन्होंने ग्रंथों की रचना की (आर्यों की धार्मिक पुस्तकें अर्थात् वेद) उन्होंने अपनी एक ऐसी श्रेणी बना ली जो दूसरों के मार्ग-प्रदर्शन करने को अपना धर्म समझने लगी। सभ्यता के उद्भव का यह चित्र प्रागैतिहासिक समाज के विषय में आधुनिक विचारधारा से प्रायः समानता रखता है। यह सत्य है कि इसकी व्याख्या बौद्ध शिष्टाचार की विचारधारा के अनुसार की जाती है। यह संभव है कि इसमें वे परम्परागत विश्वास समाविष्ट हैं जो भारत में सभ्यता के आदिकाल से सुरक्षित रह गये थे अथवा ये उन जातियों की स्थिति से अनुमान द्वारा उत्पन्न हुए, जो अभी तक भी सभ्य भारत की परिधि पर खाद्य-पदार्थ संग्रह करने की अवस्था में थी।

सभ्यता के उद्भव का ब्राह्मण मत इससे कुछ भिन्न है। न्यायपूर्ण समाज से ह्रास की ओर अग्रसर होना चार युगों या कालों के चार विभागों की कल्पना से सम्बद्ध है। **कृत** (जिसमें न अन्याय था न पाप) **त्रेता**, **द्वापर** तथा वर्तमान युग **कलि** जो पापमय है।[1] ब्राह्मणों द्वारा लिखा गया इतिहास (परम्परागत कथाएं अथवा इतिवृत्त जिनमें प्राथमिक रूप से **महाभारत** और **पुराण** ही आते हैं) भिन्न-भिन्न वर्णन प्रस्तुत करता है जो एक-दूसरे के अविरुद्ध नहीं हैं। **महाभारत** (**शान्ति**, 59) में यह व्याख्यात किया गया है कि सत्य युग के आरम्भ में कोई राज्य नहीं था। परन्तु मानवों में राग तथा लोभ उत्पन्न हुआ। इसके फलस्वरूप ब्रह्मा (सृष्टिकर्त्ता) ने राज्य का आविष्कार किया और इसके साथ ही वेद, दर्शन-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र और राजतन्त्र (जिसमें निग्रह के साधन भी सम्मिलित थे) इत्यादि विज्ञान जो शासन के लिए आवश्यक थे, आविष्कृत किये प्रतीत होता है कि अपने असली रूप में पौराणिक परम्परा यह थी कि समाज का यह भ्रष्टाचार तथा विभाजन, आनन्दपूर्ण कृत युग के पश्चात् त्रेता युग में हुआ। इसकी पुष्टि नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में की गयी है जहां यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि नाटक की उत्पत्ति त्रेता युग में हुई जबकि समाज में राग तथा लोभ के कारण संघर्ष प्रकट हो चुके थे (संघर्ष के बिना नाटक का अस्तित्व ही नहीं हो सकता)। निस्सन्देह किसी उत्तरकालीन राजभक्त द्वारा जो कि गणराज्य के भाव मात्र को भी और वह भी संपूर्ण न्याय के युग में, लेश मात्र भी, सहन नहीं कर सकता था। इतिहास में से इसको साफ ही कर देने का परिणाम है कि प्रथम राजा को कृत युग के आरम्भ में स्थापित कर दिया गया तथा सगर तक सब राजाओं को इसी युग में रख दिया गया। समाज के भ्रष्टाचार में पड़ जाने तथा राज्य के संस्थापन की बात सोचने का सबसे प्रामाणिक तथा प्राचीन वर्णन, जो कि कुछ एक स्थानों पर इसके बौद्ध रूपान्तर सहित, एक साझे स्रोत तक पहुंचता है, वायु पुराण (अष्टम अध्याय) में उपलब्ध है। इसमें खाद्य संग्रह से लेकर कृषि के युग तक मूलतः वर्ग-हीन समाज के परिवर्तन का वृत्तान्त है। त्रेता युग में कृषि के विकास के पश्चात् संपत्ति का बलपूर्वक हस्तगत कर लेना आरम्भ हुआ। तब ब्रह्मा ने जनता का वर्णों में विभाजन किया और क्षत्रियों को शासक बनाया। (पृ० 155 उत्तरोत्तर)

कृत युग से पूर्व (कम से कम (पुराण के) अन्तिम पाठ-स्वरूप में) कुछ घटनाओं को पूर्ववर्ती अवधियों में दिखाने से एक धुंधला-धुंधला चित्र सामने आता है। इसका अधिक संभाव्य कारण उत्तरकालीन परिशोधन है जिनका उद्देश्य

---

1. उदाहरण के लिए देखिए, महाभारत, शान्ति अध्याय 224. डांगे ने अपनी पुस्तक India : From Primitive Communism to Slavery में सर्व प्रथम शान्ति के उन सन्दर्भों के महत्त्व की ओर निर्देश किया जो राष्ट्र के उद्भव के विषय पर लिखे गए हैं। (विशेषतः उसके अध्याय II, IV, XII)

पूर्वापर विरोधों को हटाना था। इस प्रकार क्रमोद्भूत पद्धति में (वायु इत्यादि) वर्तमान महान् कालचक्र के अन्तर्गत हम (ब्रह्मा के पुत्र) प्रथम मनु स्वायम्भुव से जो प्रथम राजा था, आरम्भ करते हैं। उसके पश्चात् उसके वंशज दूसरे मनु समय-समय पर हुए—द्वितीय मनु स्वारोचि तथा अन्य। प्रत्येक का अपना छोटा काल-चक्र था। परन्तु कुछ एक वर्णनों में (शान्ति 59) छठे मनु चाक्षुष का, पृथु वैन्य नाम का प्रपौत्र प्रथम राजा के रूप में सामने आता है, जिसका अभिषेक राष्ट्र की उत्पत्ति के पश्चात् किया गया। इसका अर्थ यह होगा कि मनुओं का सारा ढांचा तथा उनके मन्वन्तर, परम्परागत धारणाओं पर पीछे से थोपी हुई बात है। पृथु वैन्य के विषय में यह कल्पना की जाती है कि उसने पृथ्वी को समतल बनाया, कृषि तथा व्यापार का विकास किया और नगरों तथा ग्रामों का निर्माण किया। दूसरे शब्दों में, वह सभ्यता के उद्भव का साधक विशेष था। आठ पीढ़ियों के पश्चात् उसका वंशज सप्तम मनु वैवस्वत (सूर्य देवता का पुत्र), उस पृथ्वीप्लव के पश्चात् जिसने समस्त धरा को प्लावित कर दिया था, एकमात्र व्यक्ति था जो बच रहा था। जब जलप्लाव शांत हो गया तब वह अपनी नौका से हिमालय में किसी स्थान पर उतरा और मानव जाति की पुनः सृष्टि की। इस प्रकार यह जलप्लावन वर्तमान मन्वन्तर के आरम्भ को निर्धारित करता है, जब मनु वैवस्वत प्रथम मानव तथा इसमें प्रथम राजा था। वह सब मानवों और राजाओं का पूर्व पुरुष था। उसको इस मन्वन्तर के विधि-विधान का प्रणेता माना जाता है। राजा बनने पर उसने यह नियम निर्धारित किया कि सब प्रकार की उपज का षष्ठांश कर रूप में, उसके शासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगृहीत किया जाए। अंतिम पौराणिक विधान में इस मन्वन्तर के कृतयुग का आरम्भ, इस राजा के साथ इस कल्पना पर किया जाता है कि जलप्लावन से दो मन्वन्तरों के बीच की संक्रांति निर्धारित हुई, परन्तु निश्चित रूप से यह प्राचीन विश्वास परम्परा नहीं थी। अब हमारे पास रह जाता है एक मिथ्यैतिहासिक-प्राय वैन्य पृथु जो कि प्रथम राजा था, आठ पीढ़ियों के पश्चात् एक महाजल प्लावन (जो कि सिन्धु की घाटी में एक वास्तविक उपप्लव के विषय में अतिशयोक्ति हो) और राजाओं के ऐसे नये वंश जिनका उद्गम अत्यन्त मिथ्यैतिहासिक प्राय, सूर्य के पुत्र मनु से निकाला जाता है। यह धारणा करना कि यह सूर्य वंश जिसके अन्तिम महान राजा विख्यात राम हैं, सिंधु साम्राज्य की विकृत परछाई हो, यद्यपि एक आकर्षक चिन्तन है, परन्तु इस समय यह कोरा अनुमान ही है। यह अद्भुत बात है कि आर्य जातियां तथा आरंभिक आर्य राजा प्रायेण (संभवतः मूलतः सबके सब) चन्द्र देवता से उत्पन्न माने जाते हैं, यद्यपि वे चन्द्रमा के पुत्र का विवाह मनु की पुत्री इला से होने के कारण, वैवस्वत मनु से भी सम्बन्धित किये जाते हैं।

इस समय हमें इन वंशों को छोड़ना होगा। भारतीय सभ्यता के उद्भव के

विषय में भारतीयों के परम्परागत विश्वासों के विषय में कुछ कहकर, अब हमें भारत में स्वयं इतिहास-लेखन के उद्भव के विषय में या कम से कम प्राचीनतम, विद्यमान लिखित सामग्री की खोज करनी चाहिए जिससे कि वर्तमान समय के ज्ञात साहित्य के द्वारा हम ऐतिहासिक परम्पराओं के विकास की जांच कर सकें। वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि हम प्राचीनतम आर्य साहित्य (अर्थात्) वेद से आरंभ करते हैं।

अध्याय-3

वैदिक इतिहास-लेखन

आद्यतम वैदिक मूलग्रन्थ ऋग्वेद संहिता है जो कि उन कविताओं (सूक्तों) का विशाल संग्रह है जिनकी रचना ईषु पूर्व 1500 और 1000 के बीच हुई और जो कि ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में प्रयोग के लिए सुरक्षित की गयीं। शेष वेद, गान के मंत्रों तथा प्रार्थनाओं के संग्रह तथा कर्मकाण्ड और विमर्श की पुस्तकें हैं। इसमें समसामयिक ऐतिहासिक ग्रन्थों के विषय में संकेत हैं और कुछ ऐतिहासिक संदर्भ भी वेद में सम्मिलित कर लिये गये हैं। परन्तु मूलतः उत्तरोक्त एक प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ है। स्वतन्त्र इतिहास की पुस्तकों का उनके मूलरूप में संरक्षण नहीं किया गया। वे संभवतः विद्यमान इतिहास जिसका स्मृतिकरण पीछे से किया गया, आंशिक रूप में बची रह गयी हों।

ऋग्वेद संहिता के सूक्तों में से कुछ एक ऐसे हैं जिनमें आर्यों के भारत-विजय की परम्परागत कथाएं सन्निहित प्रतीत होती हैं, यद्यपि इसकी स्मृति आख्यानों अपि च मिथ्यैतिहासों के भी धुंधले रूप में परिणत हो गयी है। इन्द्रगाथाएं जो कि युद्ध के देवता इन्द्र के पराक्रम-कार्यों पर लिखी गयी कविताएं हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ गाथाएं मानवी वीरों के चरित्रों का वर्णन भी करती हैं। कर्मकाण्डों की पुस्तकों में किये गये संकेतों से भी हमें पता चलता है कि वीर व्यक्तियों तथा राजाओं के सम्बन्ध में भी अनेक गाथाएं थीं जिनका प्रयोग कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में उचित अवसरों पर किया जाता था। इन्द्र पर लिखी गयी कविताएं वीर-काव्य शैली की हैं, और यह स्पष्ट है कि भारत में, आद्यतम आर्य काल से, राजनैतिक घटनाओं के विषय पर, इस शैली में मौखिक रूप में परम्परीय कथाएं प्रचुर मात्रा में विद्यमान थीं। इसमें से थोड़ा-सा अंश इस समय उपलब्ध श्रौत ग्रन्थों में चला गया। शेष का कुछ भाग वीर-काव्य के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचा लिया गया, और कालान्तर में इससे एक ऐतिहासिक परम्परा का निर्माण संभव हुआ। वैदिक ग्रन्थों में कुछ गाथाएं नाराशंसी (अर्थात्)

मनुष्यों की स्तुतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। वह गाथा जिसे कालान्तर में दाशराज्ञ (दस राजे) की संज्ञा दी गयी, ब्राह्मण पुरोहित वसिष्ठ की प्रशंसा करती है जिसने अपने राजा सुदास् को दस (राजाओं) पर विजय प्राप्त करने के लिए मार्ग दिखाया।

वैदिक साहित्य में आख्यान भी हैं—'वर्णन', अथवा इतिहास या 'वीर-काव्य'। ये प्राय: गद्य में हैं, परन्तु कभी-कभी पद्य अथवा दोनों का संमिश्रण (उदाहरण के लिए 'महाजल प्लावन पर, शतपथ ब्राह्मण I-8-1) उत्तरकाल में आख्यान का अर्थ वीर-काव्य हो गया, जैसा कि महाभारत के विषय में। पारिप्लवानि (पर्याय) महान् सम्राटों की एक क्रमिक संख्या पर एक आख्यान था जिसका गान (अश्वमेध-यज्ञ में) वर्ष भर अश्व की बलि दिये जाने तक, किया जाता था (जब, अश्व, पृथ्वी पर अनियन्त्रित भ्रमण करता है)।

अध्याय-4

इतिहास और पुराण का सार्वभौम इतिवृत्त

उत्तरकालीन वैदिक ग्रन्थों में (अथर्ववेद संहिता XV, 6.4, 3.3, शतपथ ब्राह्मण XI,5,6,8, तथा XIII, 4,3,12 इत्यादि; छान्दोग्योपनिषद् III, 4,1 इत्यादि; तथा अन्य) इतिहास (परम्परागत कथाएं अथवा इतिवृत्त) और पुराण (प्राचीन वर्णन या इतिवृत्त) का उल्लेख, साहित्य की शाखाओं के रूप में अथवा उपवेद या उपवेदों के रूप में किया गया है। कम से कम उत्तरवर्त्ती काल में इतिहास एक अधिकतर सामान्य संज्ञा हो जाती है, और इसमें सब प्राचीन ऐतिहासिक तथा परम्परागत तत्सम्बद्ध कथाएं, जिनमें पुराण भी शामिल हैं, समाविष्ट कर दी गयी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल पुराण केवल एक ही ग्रन्थ रहा होगा जिसमें प्राचीन राजाओं के इतिवृत्त तथा वंशावलियां (और संभवतः भारत के गणराज्यों के अभिलेख भी) जो कि अनुमानतः उन विभिन्न प्राचीन स्रोतों से, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, संगृहीत करके क्रमबद्ध की गयीं और उनको तिथि क्रम के अनुसार परस्पर जोड़ दिया गया। साधारण दृष्टि से इसकी रचना ई० पू० आठवीं शताब्दी में हुई (अधिसीम कृष्ण का राज्यकाल) यह भी संभव है कि किसी रूप में इसका अस्तित्व पहले भी रहा हो। इसका रचयिता लोमहर्षण था, या विकल्प से (यह मान सकते हैं) उसने इसे व्यास (कृष्ण द्वैपायन) से प्राप्त किया, जिसका जीवन-काल एक शताब्दी पूर्व होना चाहिए।

पुराण से पृथक् इतिहास के विषय में भारत आख्यान (अपने उत्तरवर्ती रूप महाभारत में उपलब्ध) की परम्परागत कथाएं हमारे पास हैं, जो कि भारत अथवा पौरव वंश में (संभवतः 650 और 900 ई० पू० के बीच) हुए एक महान् गृह-युद्ध की घटनाओं का वर्णन करती हैं, और जो उसी व्यास की ही समझी जाती हैं। अपने वर्तमान रूप में यह वीर गाथा-काव्य बहुत से दूसरे आख्यानों को जैसे कि **यायातिक** (सम्राट् ययाति का कथानक) समाविष्ट किये हुए हैं। वंशावलियों तथा काल-गणनाओं के आवरण से बाहर इस भांति के उपाख्यान ही रहे होंगे

जिनको मूलत: पुराण से भिन्न इतिहास समझा जाता होगा। परन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र (लगभग 300 ई० पू०) में इतिहास साहित्य की ऐसी श्रेणी है जिसमें, पुराण, इतिवृत्त (कथानक, इतिहास जिसके अन्तर्गत आख्यान जैसे कि भारत हो सकते हैं), आख्यायिका (जीवनी जैसे कि वासवदत्ता-पांचवीं शताब्दी ई० पू० की एक राजकुमारी की कहानी), उदाहरण (दृष्टांत, संभवत: निदर्शनात्मक छोटी कहानियां), धर्मशास्त्र (विधिविधान) और अर्थशास्त्र (अर्थ और शासन विज्ञान) समाविष्ट हैं।

राजाओं की वंशावलियों का संकलन, (वर्तमान) राजा तथा भूतकाल के राजाओं और वीरों के चरित्रों का गान राजसभासद सूत के पदाधिकार में था। इस प्रकार लोमहर्षण एक सूत था। यह पद वैधिक रूप से कुलक्रमागत प्रतीत होता है और इसके अधिकारी पुरोहित (ब्राह्मण) जाति के होते थे, यद्यपि उपरोक्त मत पर हमारे स्रोतों का मतैक्य नहीं, और इस बात का साक्ष्य विद्यमान है कि वे क्षत्रिय थे अथवा क्षत्रिय जाति के भी थे अथवा मिश्रित पितृकुल अंशत: पुरोहित और अंशत: क्षत्रिय होते थे। हमारे स्रोतों में से कुछ (देखिये, सहायक पुस्तक सूची में, पाठक) सूतों को भृगु (अर्थात् भार्गव), अंगिरा (भारद्वाज) और काश्यपों की पुरोहित श्रेणियों से सम्बद्ध करते हैं, जिनमें से प्रथम दो, इतिहास-लेखन के साथ विशेषत: संयुक्त किते जाते हैं। (इतिहास-पुराण के साथ और आगे चलकर कुछ अन्य रचनाओं के साथ जिनका वर्णन हम नीचे करेंगे)। परन्तु पुरातन काल में क्षत्रियों तथा अन्य आर्यों (वैश्यों) ने अपने पुरोहितों के गोत्र नाम अपना लिये थे। इसलिए यह अनुमान करना आवश्यक नहीं कि सूत ब्राह्मण थे।

यद्यपि कुलक्रम से व्यास एक वसिष्ठ था। (परन्तु ब्राह्मणेतरों से संमिश्रित, क्योंकि उसकी माता एक धीवर-कन्या थी) परन्तु इस बात का साक्ष्य विद्यमान है कि भारत परम्परागत-कथानक, (कम-से-कम वह परम्परागत वर्णन जिसके द्वारा मूल ग्रन्थ का वह स्वरूप जो हम तक पहुंचा है) पीछे से भार्गव इतिहासकारों ने अपना लिया (या तो उन ब्राह्मणों ने जो भृगु के वंशज थे, या उनसे सम्बद्ध सूतों ने)। अपि च उपरोक्त आंशिक रूप से अंगिराओं में घुल-मिल गये और भृग्वांगिरा संप्रदाय अस्तित्व में आया। तावत् अंगिराओं का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् (III, 4, 1) में इस प्रकार आया है कि वे इतिहास और पुराण से संसर्ग रखते थे। कुछ एक पुराण जो इस समय विद्यमान हैं या तो उनके भार्गव सम्प्रदाय का उल्लेख करते हैं या इसका प्रभाव अपने ग्रन्थों में प्रदर्शित करते हैं (उदाहरणत: मार्कण्डेय) किंबहुना, पौरव काल के अन्त से मगध-साम्राज्य में से होती हुई भृग्वांगिरा इतिहासकारों की एक शाखा थी जिसने क्रमश: इतिहास (और इसी के एक भाग के रूप में पुराण में संरक्षित) वृत्तान्त का संशोधन

किया ।

सार्वभौमिक इतिहास की भारतीय परम्परागत गाथाओंका यह परिशोध कार्य ईसवी चतुर्थ शताब्दी पर्यन्त जारी रहा । इस बीच में आने वाले राजवंश पुराणों में समाविष्ट कर लिये गये । तब तक यह वह स्वरूप प्राप्त कर चुका था जो कि अब संभवत: सर्वथा संशोधित होकर आलोचनात्मक रीति से सम्पादित संस्करण में प्रतिबद्ध कर दिया गया है । पुराणों का अभी तक आलोचनात्मक सम्पादन नहीं हुआ है, और उनके पाठ प्राय: भ्रान्तिपूर्ण हैं क्योंकि उनमें से अधिकतम ग्रन्थों में, उत्तरवर्ती काल की प्राय: मिथ्यैतिहासिक सामग्री चतुर्थ शताब्दी के पश्चात् भी जोड़ दी गयी है, यद्यपि कोई धारावाही वंश सम्बन्धी अभिलेख उनमें बढाए नहीं गये । इन पुराणों की सर्वसम्मत संख्या अठारह है, जिनमें से प्राचीन इतिहास के लिए सर्वाधिक महत्त्व वाले, वायव्य (वायु तथा ब्रह्माण्ड भी) मात्स्य, वैष्णव तथा मार्कण्डेय हैं । इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मध्यकाल में पुराणों की संख्या अठारह से भी आगे बढ़ गयी । नवीनतर अथवा अल्प-प्रसिद्ध (ग्रन्थों) को प्राय: उपपुराण की संज्ञा दी गयी, और प्रमुख पुराणों को महापुराणों की । एक समय पर इतिहास अथवा जय (विजय विशेष, अर्थात् भारत युद्ध में) की गणना में 18 पुराण, महाभारत, रामायण (भार्गव कवि बाल्मीकि द्वारा, सूर्यवंशीय राजाओं में से एक पर रचित वीर-काव्य) तथा तीन अथवा छ: प्रचलित शास्त्र; विष्णुधर्म, शिवधर्म और सौर धर्म तथा उनके तीन उत्तर (भाग) अथवा परिशिष्ट भी सम्मिलित किये जाते थे । परन्तु अठारह उपपुराओं का एक वर्ग (विशेषत: पर्याप्त प्राचीन नारसिंह और साम्ब) भी, आठवीं शताब्दी के लगभग, महापुराणों के समान प्राचीनता तथा प्रामाणिकता की मांग करने लगे, और तब से लेकर उनकी संख्या दुगुनी हो गयी है । वस्तुत: इन उपपुराणों की, तथा च पश्चात्कालीन पुराणों की अत्यधिक संख्या धार्मिक ग्रन्थों, कल्पित कथाओं तथा उपाख्यानों से परिपूरित है, जो कभी-कभी जगत् की सृष्टि की चर्चा तो करते हैं परन्तु इतिहास की नहीं ।

इस सार्वभौमिक इतिहास का आरम्भ जगत् की सृष्टि, विश्व की उत्पत्ति तथा विकास और देवताओं के विषय में कल्पित कथाओं से होता है । मनु वैवस्वत के साथ हमारे अपने मन्वन्तर तक पहुंचकर, यह भारत-युद्ध पर्यन्त लगभग एक शत पीढ़ियों तक राजवंशों के (वर्णन) जारी रखता है और साथ ही भारत के विभिन्न प्रदेशों में अनेक समकालीन वंशों के (वर्णन भी) (देखिये, Pargiter Ancient Indian Historical Tradition. तब यह आगे चलता रहता है Pargiter, Dynasties of the Kali age) उन वंशों के (वृत्तान्त) के साथ जिनका अनुमान लगभग तीन सहस्राब्द और लगाया जाता है, परन्तु अधिक संभावना यह है कि दूसरे साक्ष्य के प्रकाश में इस (अवधि) का संशोधन केवल 1300 वर्ष कर देना

चाहिए। (उदाहरणत: बौद्ध इतिहास-लेखन, तथा पुरातत्व का साक्ष्य)

वर्तमान पुराणों में प्रस्तुत किये गये साधारण चित्र पर, यहां एक अन्य प्रासंगिक बात कह देना आवश्यक है। ये ग्रन्थ मध्ययुग अथवा सामन्त युग के आरम्भ में परिशोधित किये गये थे और राजा के समाज का रक्षक होने के आदर्श से अतिरजित दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रवृत्ति यह है कि प्राचीन इतिहास को यथासंभव इस आदर्श की व्याख्या करते हुए, प्रस्तुत किया जाए। हमें दूसरे स्रोतों (बौद्ध इत्यादि) से ज्ञात है कि प्राचीन भारत में भिन्न-भिन्न कालों में विशेप रूप से प्रमुख गणराज्य थे। उपलब्ध पुराण ग्रन्थों में उनके वृत्तान्त सुरक्षित नहीं किये गये। ये ग्रन्थ केवल गणतन्त्रात्मक या राजहीन शासन का वर्णन केवल अराजकता की स्थिति के रूप में करते हैं जो कभी-कभी शासन के समुचित संचालन में बाधा डालते थे अथवा राज-शासन प्रणाली के प्रथम बार स्थापित होने से पूर्व हो चुके थे। परन्तु प्राचीन भारत के गणराज्यों के वृत्तान्त निश्चितप्राय ही पुराणों के पूर्ववर्ती रूपान्तरों में, सामन्तवादी परिशोधन से पहले ही, समाविष्ट किये जा चुके थे। प्राचीन समय में जबकि गणराज्य, पूर्ण रूप में शास्त्र संमत, तथा शासन का वैध रूप सर्वत्र स्वीकृत किया जा चुका था, उसका उल्लेख न करने का कोई कारण नहीं था।

ईषु पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारतीय इतिहास लेखन की स्थिति के सम्बन्ध में भारत के बाहर से भी कुछ और साक्ष्य की प्राप्ति दिखाई देती है। यह यवन लेखक अरायां और डायोडोरस सिकुलस[1] (जो स्पष्ट रूप से अपने वृत्तान्त एक मात्र प्राचीनतर स्रोत—संभवत: मैगास्थनीज से लेते हैं जो कि ईषु पूर्व चतुर्थ शताब्दी में, मगध में यवन दूत था।) वे हमें बतलाते हैं कि भारत में प्रथम राजा डायोनाईसस (जो कि पृथु ही रहा होगा) से आरम्भ करके, मैगास्थनीज के समय में मगध के मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त पर्यन्त कुल 153 राजे थे। यह पूर्ण संख्या, चन्द्रगुप्त से पूर्व मनु वैवस्वत अथवा पृथु तक (आठ और अधिक) की पीढ़ियों की संख्या के समीप पहुंचती है और उससे मेल खाती है। इस प्रकार यह वर्णन पुराणों के सार्वभौमिक इतिहास से, जैसा कि वह ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में था, उद्धृत प्रतीत होता है। इस इतिहास का पूर्णकाल 6042 वर्ष दिया जाता है (वृद्ध प्लिनी ने आगे चलकर, इस समय का सुधार 6451 वर्ष और 3 मास कर दिया। 153 राजाओं के लिये यह समय बहुत अधिक है। पुरातत्त्व की साक्षी के अनुसार जितने समय की हम आशा करते हैं उससे दुगुना) परन्तु (हमारे) स्रोतों के अनुसार राजतन्त्र के साथ-साथ, लोकतन्त्र और गणतन्त्र भी पर्याय से समय-समय

1. प्राचीन भारत पर यवन तथा लातीनी स्रोत मजूमदार की पुस्तक The Clasrical Accounts of India में संगृहीत किए गए हैं। विशेष रूप से देखिए, पृ० 223 C, और 235 ff.

पर आते थे। डायोनीसस ने सभ्यता का आविष्कार किया (उपयुक्त स्थानों पर ग्रामों को इकट्ठा करके नगर बसाए, इत्यादि), 52 वर्ष राज्य किया और तत्पश्चात् उसके पुत्र तथा वंशज कई पीढ़ियों तक राजा होते रहे। तब राजतन्त्र का विघटन करके, नगरों में, लोकतन्त्रात्मक शासन स्थापित कर दिया गया। डायोनीसस के पन्द्रह पीढ़ियां पश्चात् हैराक्लीज (सम्भवतः मनु वैवस्वत) ने भारत को अपने पुत्रों तथा एक पुत्री में बांट दिया। अनेक वर्षों के पश्चात् नगरों की अधिक संख्या फिर लोकतन्त्रात्मक हो गयी, परन्तु कुछ राजतन्त्रात्मक रह गये। गणराज्यों तथा नृपशासित राज्यों का यह संमिश्रण 300 वर्ष पर्यन्त चलता रहा। तत्पश्चात् राजतन्त्र पुनः स्थापित कर दिया गया और कुछ समय तक चला (पौरव साम्राज्य ?), परन्तु पुनः लोकतन्त्र द्वारा निराकृत किया गया (संभावित सोलह जनपदों के अन्तर्गत वृजि तथा अन्य गणराज्य ?) जो इस बार 120 वर्ष तक चला। यह स्पष्ट ही है कि इसके पश्चात् मगध-साम्राज्य अस्तित्व में आया (ईषु पूर्व पांचवीं शताब्दी में स्थापित) यह स्पष्ट कर देता है कि अपने वर्तमान रूप में पुराणों के वर्णन, लोकतन्त्र शासनों का निष्कासन करने और मनु वैवस्वत (अथवा पृथु) से नीचे की ओर, एक निरन्तर राजतन्त्र सिद्ध करने के लिए, परिवर्तित किये गये हैं। इस प्रकार के परिशोधन से तिथि-गणना की, कुछ भारी भूलों का समाधान किया जाना सम्भव है। उत्तरवर्ती काल में कुछ वंश जो कि एक ही समय में शासन कर रहे थे, एक सिरे से दूसरे सिरे तक रख दिये गये हैं और उनको अनुपूर्वीय बना दिया गया है। इस प्रकार लोकतन्त्र के शासनकाल की पूर्ति के लिए राजवंशों को पीछे धकेल देना संभव हो सका होगा।

पौराणिक सार्वभौम इतिहास जिस रूप में अब हमारे सामने है, अनेक समकालीन वंशों का प्रभाव मनु वैवस्वत के पुत्रों तथा पुत्री से बतलाता है। सूर्य वंश (यह नामकरण इसलिये है क्योंकि मनु सूर्य का पुत्र था) मनु के सबसे बड़े पुत्र इक्ष्वाकु से सीधी वंशपरम्परा चलती है। दूसरे आठ पुत्रों के वंश महत्त्व वाले नहीं हैं। चन्द्रवंश की उत्पत्ति मनु की पुत्री इला और चन्द्रमा के पुत्र बुध के विवाह-सम्बन्ध से हुई। उनका पुत्र पुरुरवस् था (तुलना कीजिये शतपथ ब्राह्मण XI, 5, 1)। इस प्रसंग में यह भी कह दिया जाए कि यह माना जाता है कि मनु ने यज्ञ द्वारा इला को उत्पन्न किया। महाजल प्लावन, जिसमें केवल मनु ही शेष बचा था, का पुरातन आख्यान, जिस रूप में शतपथ ब्राह्मण (I, 8, 1) में सुरक्षित है, दुहिता की उसी उत्पत्ति को यज्ञ द्वारा ही मानता है, परन्तु हमें यह सूचना देता है कि मानव जाति को नये सिरे से चलाने के लिए, मनु ने स्वयं उससे विवाह-सम्बन्ध किया। पुरूरवस का प्रपौत्र ययाति था। उत्तरोक्त के पांच पुत्र (यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पूरु) मूलरूप में (वेद में) आर्य जातियों के नाम प्रतीत होते हैं।

एक चमत्कार से पूरु ज्येष्ठ बन गया (अपना यौवन अपने पिता को देकर) और उसने प्रमुख वंश क्रम को चलाया, जिसे उसी के नाम पर पौरव कहा जाता है। चिरकालीन अप्रसिद्धि के पश्चात् (पुराणों में यह काल सूर्य वंश के अभ्युदय का है जिसकी स्थापना मान्धाता ने इक्ष्वाकु से बीस पीढ़ियां पश्चात् की और जिसको हरिश्चन्द्र आदि ने आगे चलाया) उनके भाग्य का उदय दुष्यन्त तथा उसके पुत्र भरत ने किया। भरत ने एक महान् साम्राज्य विजित किया और उसकी अपनी ख्याति के कारण इस वंश को उसके नाम पर कभी-कभी भारत कहा जाने लगा, जो कि भारतवर्ष के नाम के रूप में भी अपना लिया गया है। भारत गृह-युद्ध उसी वंशाभिधा को वहन कर रहा है। उनके वंशज संवरण ने पुनः साम्राज्य को नये सिरे से स्थापित किया (सूर्य वंशीय अभ्युदय के कुछ काल के पश्चात्, जिसकी समाप्ति, अन्त में, प्रख्यात राम के साथ हुई) और यह उसके पुत्र कुरु के कारण है कि इस वंश को एक और संज्ञा 'कौरव' प्राप्त हुई। भारत युद्ध कुरु के वंशज विचित्रवीर्य के पौत्रों के बीच एक कलह थी। पीछे से युधिष्ठिर ने विजयी होकर अपने भ्राता के प्रपौत्र परीक्षित का राज्याभिषेक किया और हिमालय में जा विश्राम लिया। इस वंश-परम्परा का अन्तिम महान् प्रणयशील उदयन है (ईषु पूर्व पांचवीं शताब्दी, बौद्ध स्रोतों के अनुसार बुद्ध का समकालीन), जो कि भारत में क्रियात्मक रूप से अन्तिम वैध राजा था (मूल राजवंशों में से एक का वंशज)।

युद्ध के वंशज यादव भी महत्त्वपूर्ण हैं। भारत युद्ध के समय कृष्ण उनमें से एक था (परन्तु यह बहुत संभव है कि उसके समय में यादव वस्तुतः एक लोकतन्त्रात्मक सत्ता थी, राज्य-तन्त्रात्मक नहीं) और उसकी सहायता से युधिष्ठिर अन्तिम समर में विजयी हो सका। पीछे से वह देवता माना जाने लगा—विष्णु का अवतार। मध्यकालीन भारत में अनेक यादव वंश सामने आते हैं। यद्यपि यह कहना असंभव है कि उनमें से किसी को भी यह अधिकार-याचना वैध है। (ऐसी ही अधिकार-याचनाओं पर यदि ध्यान दिया जाए, तो सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी के मराठे सूर्यवंश के वंशज होने का सबल कथन करते थे) यादवों की एक शाखा हैहय थी, जो कि अति प्राचीन काल में भारत के पश्चिमी तट पर शासन करती थी (आनर्त या गुजरात) उनमें से एक कार्तवीर्य अर्जुन (हरिश्चन्द्र से थोड़ा ही पहले) दक्षिण भारत में दानवों को पराजित करके अपने भार्गव पुरोहित परशुराम से (कुल्हाड़े वाला राम) कलह मोल ले बैठा, जिसने उसका (कार्तवीर्य का) वध कर दिया। तब राजा के पुत्रों ने राम के पिता को मार दिया। यह कहा जाता है कि तब एक भयंकर प्रतिशोध में, राम ने क्षत्रियों की समस्त जाति (राजन्य) का, केवल पांच शेष रह जाने वालों को छोड़कर, वध कर दिया। इस राम ने पश्चिम तट पर, भृगुकच्छ तथा अन्य महत्त्वपूर्ण नौकाश्रयों की स्थापना की और केरल में प्रचलित

एक प्राचीन कथा परम्परा के अनुसार, उसने समुद्र से केरल की भूमि उद्धृत की। एवं वह एक प्रकार का सांस्कृतिक नायक था। उसको विष्णु का अवतार भी माना जाता है।

चन्द्र वंशी राजाओं की शेष शाखाओं में से हमें मध्य सिन्धु पर मूलस्थान में प्रतिष्ठित आनवों (अनु से) का भी उल्लेख करना चाहिए जिनमें शिवि (कार्तवीर्य से चार पीढ़ियां पूर्व), जिसका शासन समस्त सिन्धु घाटी पर था, अपने दया भाव तथा दानशीलता के लिए बौद्ध तथा परम्परागत ब्राह्मण आख्यानों में प्रसिद्ध है। द्रुह्यु वंश का राज्य उत्तर-पश्चिम में था (गन्धार—जिसका नामकरण, मान्धाता और शिवि के बीच, उनमें से एक के नाम पर किया गया)। इस प्रकार यह माना जाता है कि आर्य चन्द्रवंशों ने लगभग समस्त भारतवर्ष पर उस काल में जिसको ब्राह्मण परम्परागत कथानकों में श्रेण्य कहा जाता है, शासन किया। इसमें हेतु यह है कि पाण्ड्य, चोल, केरल तथा सुदूर दक्षिण के अन्य भाग (पद्म, vi, 250) तुरवसु ही समझे जाते हैं (अन्ततः तुलुवों ने भी अधिकार रूप में ऐसा ही प्रतिपादित किया।

मनु वैवस्वत से उत्पन्न राजवंशों के पश्चात् भारत के अधिकतम भाग पर मगध-साम्राज्य-काल का वर्णन देते हुए पुराण मगध के वंशों का वृत्तान्त जारी रखते हैं। प्रायशः ये वंश बलपूर्वक राज्य छीनने वाले अनधिकारी तथा नवोदय के अभिमान से पूर्ण समझे गये हैं, क्योंकि ये कुलक्रमागत क्षत्रिय जाति अथवा अभिजात वर्ग के नहीं थे। कुछ दास वर्ण के (अनार्य-शूद्र) थे, परन्तु कुछ ब्राह्मण थे। मगध के इन वंशों के विषय में बहुत-सी भ्रान्ति है, जिसको अधिकतम अंश में बौद्ध इतिहास से तुलना करके सुलझाया जा सकता है, क्योंकि अब हम बुद्ध के जीवन-काल से पीछे आने वाले समय में पहुंच गये हैं, जिसका वर्णन बौद्ध (इतिहासकार) विस्तृत रूप में करते हैं। उदाहरणतः उदयन का शत्रु, परन्तु पीछे से उसका श्वसुर प्रद्योत तथा उसके उत्तराधिकारी, पुराणों में मगध के एक वंश के रूप में माने गये हैं, जबकि वास्तव में वे पश्चिम भारत में अवन्ति के स्वतन्त्र जनपद पर (राजधानी उज्जयिनी) पांचवीं शताब्दी ई० पू० के अन्त तक शासन करते रहे। ऐसी विधियों से मगध के वंश, ऊपर निर्दिष्ट किये गये कारण से दीर्घ बना दिये गये हैं। प्रबल रूप में मगध के साम्राज्य की स्थापना ई० पू० पांचवीं शताब्दी के अन्त में, अवन्ति को विजित करके, शिशुनाग द्वारा की गयी थी, यद्यपि पुराणों के अनुसार वह मगध के राजाओं का पूर्वज तथा बुद्ध (बिम्बिसार तथा अजातशत्रु जो कि वस्तुतः एक भिन्न वंश-हर्यङ्क कुल) का समकालीन था। मगध के उत्तरवर्ती वंश, नन्द, मौर्य, शुंग और काण्व थे जिनमें से प्रत्येक की स्थापना, उनके पूर्ववर्ती राजवंशों की भांति जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, एक बलात् राज्य छीन लेने वाले ने की थी। उनके ऐतिहासिक महत्त्व

के होते हुए भी पुराण इन वंशों में स्वल्प रुचि भी प्रकट नहीं करते, क्योंकि प्राक्तर वैध राजवंशों की तुलना में वे इनको प्रतिकूल दृष्टि से देखते हैं। इनमें से अन्तिम दो के प्रति अधिक अच्छा दृष्टिकोण था, क्योंकि वे ब्राह्मण धर्म अथवा ब्राह्मण व्यक्तियों के पोषक थे, जबकि आद्य चार (वंशों) की अभिरुचि बुद्ध धर्म, जैन धर्म, आजीवक धर्म और संभवतः अन्य ब्रह्मणेतर विचार-धाराओं के प्रति थी (जिनमें संभवतः लोकायत भी शामिल थे)।

काण्वों का उच्छेदन आन्ध्र तथा महाराष्ट्र के सातवाहनों ने किया, जिनको पुराण, उनके वंश के आरम्भ से अन्त तक मगध के राजा, प्रस्तुत करते हैं (लगभग चार शताब्दियों की लम्बी अवधि), और जो पूर्णरूप से काण्वों के पश्चात् हुए। अधिक संभावना यह है कि वस्तुतः वे उस समय स्वतन्त्र हुए जब शुंगों ने मौर्यों को विस्थापित किया। वे (सातवाहन) साम्राज्य के दक्षिण भाग में तब तक शासन करते रहे जब तक उन्होंने काण्वों को 30 ई० पू० के लगभग जीता।

सातवाहनों के पश्चात् पुराण राजवंशों की एक विशाल संख्या का वर्णन भ्रान्तपूर्ण ढंग से करते हैं। प्रायः (ये वंश) कल्पित सार्वभौम राज्य के विखण्डन के पश्चात् केवल भारत के कुछ भागों पर शासन कर रहे थे। इस प्रकार कुषाण, जो वस्तुतः दो शताब्दियों या इससे भी अधिक समय तक सातवाहनों के समकालीन थे, पौराणिकों द्वारा अनपेक्षित किये गये प्रतीत होते हैं, अथवा उनका उल्लेख तुषारों के रूप में किया गया और संभवतः राजा 'कनक' (कनिष्क) ? इन उत्तराधिकारियों में था। इन राजवंशों में से अनेक, मलेच्छ या असभ्य अर्थात् हिंस्र जन थे जो कि स्वयं भारत के दास वर्ण से भी अधिक दुराचारी और बलात् अधिकार जमा लेने वाले थे (उदाहरणतः जिनमें यवन भी शामिल थे जिन्होंने उत्तर-पश्चिम भारत पर शुंग काल में वस्तुतः शासन किया था)।

विविध नागवंश अधिक अनुकूल दृष्टि से चित्रित किये गये हैं, परन्तु सभ्यता के भविष्य की आशा, विन्ध्यशक्ति (एक आंगिरा) ब्राह्मण जिसने महाराष्ट्र में वाकाटक वंश का सूत्रपात किया (ईषु पश्चात् तीसरी शताब्दी के मध्य के आसपास) और उसके उत्तराधिकारियों के साथ, जिन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड अनुष्ठित किया, पुनः प्रादुर्भूत हुई। गुप्तों का वर्णन मात्र केवल वाकाटकों के समकालीन छोटे-छोटे वंशों के अन्तर्गत, गंगा की घाटी के निचले भाग पर शासन करने वालों के रूप में किया गया है। इस प्रकार हम ईषु पश्चात् चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ और पुराणों में वर्णित सार्वभौम इतिहास के अन्त पर पहुंच जाते हैं (उनका काल-गणनाक्रम फिर असंख्य गौड़ वंशों को बहुत अधिक समय पर प्रसारित कर देता है)। अनुमानतः यह तिथि इतिहास को संहिता का अन्तिम रूप दिये जाने को प्रस्तुत करती है। यद्यपि इसके पश्चात पुराणों के धार्मिक खण्डों में अनेक वृद्धियां की गयीं, वंश वर्णन को आगे जारी नहीं रखा गया (उत्तरवर्ती राजाओं,

उदाहरणतः प्रतिहारों पर कुछ विच्छिन्न टिप्पण हैं—स्कन्द, III, 2, 36 तथा vii, 2, 6ff) जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि पौराणिकों का सार्वभौम इतिहास ब्राह्मणों की धार्मिक विचारधारा की पृष्ठ-भूमि में प्रस्तुत किया गया है, प्रत्युत जो स्वयं शताब्दियों के अन्तर में परिवर्तित हो रहा था। इतिहास के संहिता का रूप धारण कर लेने पर, पौराणिकों ने धार्मिक विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। पुरातन सूत जिसने वीरचरितों का गान किया, परमार्थ विशारदों द्वारा उल्लंघित हो गया।

अध्याय-5

बौद्ध इतिहास-लेखन

बौद्ध-इतिहास-लेखन का उल्लेख ऊपर कई बार किया जा चुका है तथा समाज और सभ्यता के आरम्भिक विकास के बौद्ध-वर्णन का संक्षेप भी बना दिया गया है। सिद्धान्त रूप से (**त्रिपिटक**), बुद्ध के जीवन में महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वृत्तान्त है इनके अन्तर्गत वे प्रवचन भी हैं जिनमें उसने अपने मत को व्यवस्थित किया (**सूत्रपिटक**), तथा उसके संघ की स्थापना से सम्बद्ध घटनाएं (संघ एक संज्ञा जो लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक संस्थाओं से ग्रहण की गयी है) तथा इसके संविधान और अनुशासन के नियमों (**विनयपिटक**) की व्यवस्था। यह बुद्ध के जीवन-काल में (ई० पू० 566-486) भारत के विषय में पूर्वमेव पर्याप्त सूचना प्रदान करता है—विशेषतः वृत्तान्त के विस्तीर्ण स्वरूप के कारण। समाज तथा सांस्कृतिक जीवन के विषय में बहुत कुछ है, थोड़ा-सा आर्थिक व्यवस्था पर, तथा कुछ राजनीतिक घटनाओं के संकेत हैं इसके साथ ही ये प्रवचन जो प्रायः बुद्ध पर ही आरोपित किये जाते हैं, स्वयं अपने अन्दर प्राचीन इतिहास को समविष्ट किये हैं (सूत्र पिटक के दीघ निकाय में) जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और प्राचीन घटनाओं के कुछ अन्य वृत्तान्त। जनता की समिति द्वारा चुना गया प्रथम राजा, जैसाकि पहले कहा जा चुका है महासम्मत (अर्थात्) 'महान् निर्वाचित' नाम का था। (सिंहल में बौद्ध भाष्यों के परम्परागत वृत्तान्त उत्तर काल में उसको मनु ही प्रतिपादित करते हैं) बुद्ध (अथवा उसके प्रवचनों का संकलन करने वाले) स्पष्ट रूप से सार्वभौम इतिहास के किसी स्वरूप से परिचित थे जो कि उस (वर्णन) से मिलता-जुलता था जिसका निरीक्षण हमने पुराणों में किया है, यद्यपि वह विस्तार से इसकी समालोचना नहीं करता। (उत्तरकालीन) दीपवंश वर्तमान युग या कल्प के वंशों की एक श्रृंखला प्रस्तुत करता है। (उसका) अभिप्राय विकास के उस चक्र से है जो महासम्मत से आरम्भ होता है। कालचक्रों की अपरिमेयता के बौद्ध विचारों के अनुसार, जो कि स्पष्ट रूप से ज्योतिष के अध्ययन से लिये गये हैं, यह (स्वरूप) पौराणिक पाठान्तर की अपेक्षा अत्यधिक संवर्धित है। वस्तुतः

इसका कहना है कि 4,00,00,00,000 से भी अधिक राजा, बीस पृथक्-पृथक नगरों में हो चुके हैं, यद्यपि वंशों की अधिक विस्तृत सूचियां, 4,00,000 से कम का ब्यौरा देती हैं। थोड़े-से प्रसिद्ध नाम ही पुराणों के नामों से मेल खाते हैं और यह सूची स्वयं बुद्ध के साथ ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि इस काल तक इस लोक कथा का आविष्कार हो चुका था, कि बुद्ध सार्वभौम राज्य का दामाद था, जिसका उसने परित्याग कर दिया क्योंकि उसको दर्शन के प्रति अधिक आकर्षण था। एवं (**दीघनिकाय**) संख्या 26, एक-दूसरे के पश्चात् आने वाले तीन चक्रवर्ती सम्राटों के राज्यकाल का वर्णन करता है, जिन्होंने अनुमानतः महासम्मत की परम्परा में न्यायपूर्वक शासन करने का प्रयत्न किया परन्तु अन्ततः असफल रहे और समाज को अधिक भ्रष्ट तथा अधिक हिंसात्मक होने दिया। इन सम्राटों के नाम नहीं दिये गये। कुछ एक के नाम अन्यत्र दिये गये हैं, जिनका ज्ञान पौराणिक वृत्तान्तों को भी है, परन्तु तिथि-गणना के क्रम में महान् विभेद हैं। बौद्ध (लेखक) प्रायः प्राचीन राजाओं के चरित वर्णन करने में अधिक रुचि नहीं रखते थे। इसका अपवाद केवल वे राजा थे जिनके नैतिक कार्य आदर्श रूप थे, अथवा वे जो बुद्ध के निकटवर्ती पूर्वज थे अथवा जिनका सम्बन्ध प्राचीनतम बौद्ध आख्यानों नायकों से था, जिनमें स्वयं बुद्ध के पूर्व जन्म भी शामिल थे (इनमें से बहुतों का वर्णन **त्रिपिटिक** में किया गया है। परन्तु संभवतः वे इसमें अपेक्षाकृत उत्तरकालीन परिवर्धन हैं।) जिन प्राचीन राजाओं का उल्लेख **त्रिपिटिक** में हुआ है, उनमें हैं, इक्ष्वाकु, (पाली में इसको ओक्काक लिखा जाता है, जो अपेक्षाकृत एक सद्यःभूत राजा है और चाहे जो भी हो, वह मनु का पुत्र नहीं है।) मान्धाता, भरत, धृतराष्ट्र, शिवि और जनक।

बौद्ध संघ की स्थापना का वर्णन करने में, तथा उसी संघ की उत्तरकालीन घटनाओं को देखने में तिथि क्रम से उल्लेख करने के उपक्रम में, **विनयपिटक** ने वस्तुतः बौद्ध इतिहास का प्रारंभ किया। बुद्ध के **परिनिर्वाण** के पश्चात् यह अभिलेख बराबर लिखा जाता रहा और इसमें एक शताब्दी के पश्चात् की भी संघ की घटनाएं, (मगध के कालाशोक के राज्यकाल में) स्वयं **विनयपिटक** में ही जोड़ दी गयीं। उसके कुछ समय पश्चात् (सर्वाधिक संभावना 349 ई० पू० तिथि की है) बौद्ध संघ में भेद हो गया, और पृथक् शाखाओं ने अपने-अपने ऐतिहासिक अभिलेख पृथक्-पृथक् लिखना जारी रखा (परन्तु) **त्रिपिटक** में उनका समावेश नहीं किया। इस प्रकार स्थविरवाद शाखा ने (जिसका मुख्य केन्द्र अन्ततः सिंहल में बना) त्रिपिटक की व्याख्या की अपनी परम्पराओं में जिन्हें (अठ्ठकथा) भाष्य कहा जाता है **वंश** नाम के इतिहास को बीच में मिला लिया। इसका अर्थ यहां पर, वंशवृक्ष नहीं था, जो कभी-कभी होता भी है—परन्तु इसको शाखा के आचार्यों की अनुपूर्वी के अर्थ में, तथा बौद्ध धर्म के इतिहास के विषय

में साधारण रूप से। वही संज्ञा 'वंश' इसी अर्थ में परम्परागत वैदिक कथानकों में भी प्रयुक्त होती है, और इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण जैसे ग्रन्थ अपने आचार्यों के वंश प्रस्तुत करते हैं। त्रिपिटकों में एक बुद्धवंश है, जो कि काल्पनिक बुद्धों की एक परम्परा है जो कि हमारे बुद्ध से पूर्व समय के विशाल अन्तरों पर हुए। विनयपिटक के भाष्य का वर्तमान स्वरूप, एक अविच्छिन्न ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत करता है जिसमें ई० पू० 200 पर्यन्त, सिंहल में स्थविरवाद शाखा की स्थापना भी सम्मिलित है। इसके साथ जुड़ा हुआ आचार्यों का एक वंश ईशु की प्रथम शताब्दी तक चलता है। एक और भाष्य (कथावत्थु पर) बुद्धधर्म की दूसरी शाखाओं का विस्तृत वर्णन करता है, जैसे-जैसे वे स्थविरवाद से पृथक् होती जाती हैं। दीपवंश (द्वीप का इतिहास अर्थात् सिंहल का। परन्तु यह, साथ ही भारत वर्ष के प्राचीन इतिहास के विषय में भी लिखता है।) उसी प्राचीन भाष्य की परम्परागत प्रति, एक अन्य प्राप्य पाठान्तर है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यह एक संकलित ग्रन्थ है जिसमें भिन्न-भिन्न स्रोतों से इतिहास संगृहीत किया गया है जो कि संभवतः सब के सब आख्यान-परम्परा के अन्तर्गत थे। यह इस वर्णन को चतुर्थ शताब्दी के मध्य तक ले जाता है, जिसके अन्त में इसको लिखित रूप दिए जाने की अधिक संभावना है। (पौराणिक सार्वभौम इतिहास की समाप्ति के साथ संयोग द्रष्टव्य है) इसके पश्चात् सिंहल का इतिहास बौद्धों द्वारा समय-समय पर लिखा जाता रहा और बिना किसी व्यवधान के वर्तमान काल तक पहुंचा दिया गया है। इसी प्रकार का कार्य बर्मा तथा दक्षिण-पूर्वीय एशिया में बौद्ध लेखकों द्वारा किया गया।

सिंहल के समृद्ध इतिहास के नितान्त विपरीत बौद्धों की केवल थोड़ी-सी इधर-उधर बिखरी हुई रचनाएं हैं। इसका स्पष्ट कारण भारत में बुद्धधर्म के दमन की ऐतिहासिक परिस्थिति, तथा इसकी भारतीय शाखाओं की अधिकतम संख्या का लोप हो जाना है। भारतीय इतिहास को समाविष्ट करने वाले तिब्बती तथा चीनी स्रोतों द्वारा भारतीय आख्यानों के अवशेषों की पूर्ति की जाती है। प्रथम स्थान पर, **मंजु श्रीमूल कल्प** है जो कि मंत्रवान (तन्त्र) का ग्रन्थ है, ऐतिहासिक खण्ड है जिसकी मूल प्रति केरल में सुरक्षित रह गई है। यह भारत के सामान्य इतिहास को आठवीं शताब्दी तक ले जाता है, यद्यपि इसकी शैली संक्षिप्त और रहस्यात्मक है। यह नन्द-काल, मौर्यों, गुप्तों (वलभी के) मैत्रकों मौखरियों, पुष्यभूतियों तथा गोपाल (के समय) के लिए उपयोगी है। तिब्बती इतिहास लेख तारानाथ (सतरहवी शताब्दी) की रचनाओं से इसकी प्रभूत अभि-वृद्धि की जा सकती है और कुछ मात्रा में बू-स्तन (चौदहवीं शताब्दी) द्वारा। यह स्पष्ट है कि तारानाथ ने भारत में रचित अनेक ग्रंथों से संकलन किया, और उनका समन्वय करने में बहुधा असफल रहा। कुषाणों का विवरण (चन्द्रों के रूप में,

क्योंकि वे अपनी ही काल्पनिक कथाओं के अनुसार चन्द्रवंशी थे) एक अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण शैली में दिया गया है। पूर्वी भारत के राजाओं (मगध इत्यादि) का वर्णन और अधिक संभ्रमपूर्ण है। उनके अन्तर्गत, गुप्त राजाओं में से कुछ, एक धुंधली और क्रमहीन विधा में दिए गए हैं। (गुप्तों की परवर्ती शाखा, नरसिंह से महासेन तक, छठी शताब्दी में रख दी गई प्रतीत होती है।) आठवीं शताब्दी से लेकर आगे तक पाल वंश का वृत्तान्त, अन्य परवर्ती राजाओं के साथ तारानाथ द्वारा अधिक सन्तोषप्रद शैली में प्रस्तुत किया गया है, जिससे लगता है कि उन भारतीय स्रोतों को प्रयोग में लाया गया है जो उन घटनाओं के निकटतर थे जिनका वे वर्णन कर रहे हैं। तुर्कों के आक्रमणों का विस्तृत विवेचन किया गया है, जबकि बुद्ध धर्म धीरे-धीरे भारत से मिट गया और शरणार्थी भिन्न-भिन्न पड़ोसी देशों में भाग गए। इस विषय पर हमारे पास धर्मस्वामी की तिब्बती जीवनी भी है। (बुद्ध से पूर्व) प्राचीन इतिहास के लिए तारानाथ, अपने पाठकों को **महाभारत** तथा अठारह **पुराण** आदि (ग्रन्थों) को देखने का संकेत करता है, बुद्ध धर्म की शाखाओं के इतिहास के लिए हमारे पास वसुमित्र, भावविवेक, परमार्थ, तथा विनीतदेव की रचनाएं हैं। अन्ततः हमारे पास अवदान साहित्य है, जो कि, विशेषतः मौर्य सम्राट अशोक के विषय में लिखा गया अशोकावदान जिसके कई पाठान्तर हैं, **त्रिपिटक** का ही एक भाग माना जाता है। (मूल अवदान, बुद्ध तथा उससे पूर्ववर्ती बुद्धों, तथा बुद्ध के अनुयायीओं की कथाएं हैं जिनका विषय प्रायः उनके पूर्व-जन्म हैं। प्रत्युत बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथा, जातक कहलाती है। सिद्धान्त रूप में अवदान का अर्थ गक महान कार्य है। जिसके निश्चित परिणाम निकलते हों, जब कि **वंश** से एक प्रकार की आनुपूर्वी, या परम्परागत सम्प्रदाय, अथवा एक कुल, अभिप्रेत है। सहज भाव से ही, पूर्व-जन्मों की **अवदान** कथाओं को हम काल्पनिक अथवा कृत्रिम समझते हैं, परन्तु यह प्रबल अभ्यर्थना की गयी है कि वे वस्तुतः स्मरण रखी जा सकती थीं। इस प्रकार वे इतिहास की एक शाखा का एक अंग उनके लिए हैं, जो भूतकाल के ऐसे साक्ष्य को मान्यता प्रदान करते हैं।)

बौद्ध-इतिहास-लेखन में, मूल इतिहास लेखन तथा अनुषंगिक इतिहास-लेखन में हम भेद कर सकते हैं। पहले का अर्थ घटनाओं का प्रत्यक्ष, अथवा थोड़ा-बहुत समकालीन वर्णन है। दूसरे का अर्थ है, ऐसी घटनाओं का उत्तरकालीन पुनः कथन, और बहुशः इतिहास से हटकर दन्तकथाओं में परिवर्तन एवं **त्रिपिटक** में हमें बुद्ध के कार्यकलाप के विषय में परिणाम सूचक, विस्तृत वृत्तान्त मिल जाते हैं, जो कि स्पष्ट रूप में घटनाओं का न्यूनाधिक प्रत्यक्ष अभिलेख हैं, और किसी पूर्वनिर्धारित मत के अनुसार उनकी रचना नहीं की गयी है। आगे चलकर हमें बुद्ध की जीवनियों की एक परम्परा मिल जाती है, उदाहरणार्थ, **महावस्तु निदान**

कथा, शाक्यमुनिबुद्धचरित ललितविस्तर, तथा अश्वघोष का **बुद्धचरित**, जिनमें इतिवृत्त को आख्यान में अधिकाधिक, परिवर्तित कर दिया गया है। घटनाएं ऐसी नहीं हैं जिनकी हम एक विस्तीर्ण ऐतिहासिक इतिवृत्त में, अपेक्षा कर सकते हैं परन्तु वे कुछ आदर्शों के अनुसार ठीक उतरती हैं। कोई बात अचानक घटी हुई नहीं है। प्रत्येक बात अर्थयुक्त है। वस्तुतः धार्मिक-हेतुमत्ता के बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार सब क्रियाएं पूर्वकृत कर्मों पर आश्रित हैं। जिस प्रकार एक कर्म, भूत की घटनाओं से संबद्ध है, उसी प्रकार यह इसके भावी परिणामों से परिपूर्ण है। इस आदर्शवाद के फलस्वरूप सामान्य इतिहास लेखकों में स्वाभाविक रूप से, घटनाओं को चुनने, विकृत करने तथा उनकी कल्पना करने की ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई जिससे कि वे प्रस्तुत किए गए, इतिहास के नैतिक चित्र को उत्कृष्ट बना सकें। कहने का तात्पर्य यह है कि एक इतिवृत्त के इस नैतिक तथ्य के प्रश्न के अतिरिक्त, हमारे सामने कलात्मक तथ्य की बात भी आती है। साहित्य का कलापक्ष (वीर-काव्य इत्यादि) प्रधान हो जाता है। उदाहरण के लिए, अश्वघोष भारत के महा-कवियों में से एक है, इतिहास-कार नहीं। इस बात की हम आगे चलकर दूसरे लेखकों के प्रसंग में और अधिक विवेचना करेंगे। इतिहास से हटकर आख्यान की ओर जाने की यह प्रवृत्ति उत्तरकालीन लेखकों द्वारा की गयी, यह व्याख्या दूसरे चरित्रों पर भी प्रभाव डालती है जैसे कि उदयन, प्रद्योत, अशोक (आदि पर)।

अध्याय-6

जैन इतिहास-लेखन और विक्रमादित्य का कथानक

पौराणिकों और बौद्धों के अतिरिक्त जैन-इतिहास-लेखन इस परम्परा की तीसरी श्रेणी है। जिन बुद्ध का समकालीन था। अतः जैन ऐतिहासिक ग्रन्थ उसी काल का वर्णन करते हैं। जैनों के भी, समाज के विकास के युगों के विषयों में अपने विचार थे तथा वर्तमान युग के विख्यात सम्राटों के अधिक प्राचीन इतिहास के अपने ही विशेष वर्णन थे। बौद्ध ग्रन्थों की अपेक्षा उनके सबसे प्राचीन ग्रन्थ अपेक्षाकृत कम सुरक्षित रह सके हैं जिसके परिणामस्वरूप उनके वर्तमान श्रौत-ग्रन्थ (श्वेताम्बर शाखा का अन्य कोई पाठान्तर नहीं है) बहुत परवर्ती काल का पाठान्तर है जिसमें कुछ पाठ ऐसे भी हैं जो कि जिन के पश्चात् संभवतः, एक सहस्र वर्ष के हैं। इस श्रौत संग्रह में सबसे पुरातन पुस्तक—**आचारांग** (ई० पू० चतुर्थ शताब्दी का अन्त) जिनके जीवन की कुछ कथाओं का वर्णन करती है। **व्याख्याप्रज्ञप्ति** (संभवतः ई० पू० प्रथम शताब्दी) इनका और परिवर्धन कर देती है, और हमें इतिहास का, कथानक में वही परिवर्तन देखने में आता है जो कि हम बौद्ध-परम्परा में देख चुके हैं। जिनके कथानक का परिपाक **जिनचरित्र** में होता है। (कल्पसूत्र का एक भाग) **व्याख्याप्रज्ञप्ति** प्राचीन कालचक्र का इतिहास भी प्रस्तुत करती है। इससे कुछ पहले **स्थानांग** (ई० पू० प्रथम शताब्दी ?) इसके साथ ही भारत में वर्तमान युग के सार्वभौम सम्राटों का वर्णन भी यहां दिया गया है (भारत अर्थात् दक्षिण द्वीप, उत्तर-द्वीप में भी अन्य सम्राटों की कल्पना भी की गयी है)। इसके 24 **जिन, 9 बलदेव**, (पौराणिक परम्परा का सूर्यवंशीय राम इन्हीं के अन्तर्गत है), 9 **वासुदेव** (कृष्ण समेत), उनके शत्रु (रावण तथा दूसरे प्रतिशत्रु) और मानवता के लिए विधिविधान बनाने वाले (जिस प्रकार पुराणों के मनु)। इस सार्वभौम और स्पष्टतया प्रायः काल्पनिक समस्त इतिहास के लिए, अन्य धार्मिक-संहिताओं पर आश्रित स्रोत हैं, **समवायांग** (एक प्रकार से **स्थानांग** का परिशिष्ट), **अन्तकृतदशक, ज्ञाताधर्मकथा** तथा **जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति**। **ज्ञाताधर्म-कथा** के अन्तर्गत, **महाभारत** का जैन रूपान्तर है। इस बात को ध्यान में रखना

लाभप्रद होगा कि **जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति** के अनुसार, भरत ने जो कि जैन परिपाटी में बारह सम्राटों में प्रथम था, अपने सम्राज्य का आधार पश्चिमी तट पर सिन्धु (Indus) को बनाया, वैताढ्य पर्वत दक्षिण द्वीप की उत्तरी सीमा को निर्धारित करता था, मनुओं का आरंभ पूर्ववर्ती युग से अनुसृत किया गया है (**समवायांग**)

इस प्रकार धर्म-संहिता में प्रस्तुत की गयी सामग्री के आधार पर, बहुत से उत्तरकालीन लेखकों ने, अनेक भारतीय भाषाओं में प्राय: वीर-काव्यों की रचना की। इन सबमें से प्रथम विमल था (लगभग ई० पू० 200) जिसने अपने **पद्मचरित** में, राम की कथा, जान बूझकर, बाल्मीकीय रामायण के, जिसको वह मिथ्या घोषित करता है, विरोध में लिखी। इसके आमुख के रूप में सार्वभौम इतिहास के जैन रूपान्तर का संक्षेप साथ जोड़ दिया। उसकी धारणा है कि सबसे बढ़कर मिथ्या-करण इस बात में है कि राम के शत्रु रावण को एक दानव और राक्षस के रूप में दर्शाया गया है। जबकि वस्तुत: वह एक विद्याधर (एक मनुष्य जिसने अतिमानवीय शक्तियां, जिनमें उड़ना भी शामिल है, देवताओं की प्रतिस्पर्धा में प्राप्त कर ली थीं) और धार्मिक विश्वास की दृष्टि से एक जैन ही था, यद्यपि ऐसा होते हुए भी वह इतना मूर्ख था कि उसने राम की पत्नी का अपहरण किया। वास्तविक राक्षस तो वे हैं जो पशु-बलि का अनुष्ठान करते हैं (अर्थात् कुछ ब्राह्मण)।

यह कहा जा सकता है कि जैन लेखकों ने आदर्शरूप में, ब्राह्मण इतिहास तथा आख्यान में से असत्य को छांटकर निकाल दिया है जिससे उनके सदाचार पर आश्रित हेतुवाद के अनुसार कथाओं को युक्तिसंगत बनाया जा सके और उनमें से अतिमानुषिक हस्तक्षेप को निकालकर, नायकों को अपने कर्मों के अनुसार फल का भागी बनाया जाए। इसका एक अच्छा उदाहरण, बाहरवीं शताब्दी में जैन नाटककार रामचन्द्र है। (उसके ऐतिहासिक नाटक, नल, राम, कृष्ण और हरिश्चन्द्र पर लिखे गये हैं, जो सबके सब ब्राह्मण आख्यानों से लिये गये हैं) हरिभद्र (आठवीं शताब्दी) एक प्रकार का पुराण-विरोधी **धूर्ताख्यान** (धूर्तों का इतिहास) लिखने में और भी आगे निकल गया है। इस (पुस्तक) में धूर्तों का एक समूह वर्षा के कारण अस्थायी रूप में इधर-उधर घूमने से बाधित होकर, अपने विषय में ही झूठी बातें सुनकर समय-यापन करता है। जो (झूठ बोलने में) हार जाये वह समूह को एक भोज दे। वे एक दूसरे के झूठ बोलने के प्रयत्नों को ब्राह्मण इतिहास से समान उद्धरण देकर सत्य सिद्ध कर देते हैं (उदाहरणार्थ, सबसे बड़े झूठ तो 'इतिहास' में पाए जाते हैं जिनकी तुलना में किसी भी धूर्त की झूठी बात नितान्त विश्वसनीय प्रतीत होती है)।

पुरातन आख्यानों पर आश्रित, एक महत्त्वपूर्ण जैन इतिहास संघदास (लगभग 500 ई० पू०) का **वसुदेव हिण्डी** 'वसुदेव के भ्रमण' है जो एक यथार्थ उपन्यास

में भी प्रयोग में आया है। (वसुदेव, अपने पूर्व जन्मों में कृष्ण के पिता) इसमें इतिहास को नया रूप दे दिया गया है जिससे कथानकों को उपदेशपरक बनाया जाए, तथा सत्कर्मों और दुष्कर्मों के परिणाम दर्शाए जाएं (प्रायः ये अनेक जन्मों में चलते रहते हैं। जैन लेखकों में यह सर्वप्रिय प्रयोग है।) जिनसेन की **हरिवंश पुराण** (ई० पू० 783) **महाभारत** की कथा का सबसे अधिक प्रख्यात रूपान्तर है। साथ ही साथ यह अपने समय तक का जैन धर्म का इतिहास भी प्रस्तुत करता है जब उत्तर (कान्यकुब्ज) में इन्द्रायुध राज्य कर रहा था; वत्सराज (गुर्जर-प्रतिहार) पश्चिम (राजस्थान) में; और श्रीवल्लभ (ध्रुव-राष्ट्रकूट) दक्षिण में (66,3.) एक अन्य जिनसेन (नवमी शताब्दी) ने एक सम्पूर्ण सार्वभौमिक इतिहास (**आदि-पुराण**), या कम से कम वर्तमान युग के 63 विख्यात महापुरुषों का इतिहास (सम्राट, जिन इत्यादि) लिखना आरंभ किया जिसको (**उत्तर पुराण**) गुणभद्र ने पूरा किया। जिनसेन (द्वितीय) ने इतिहास के आशय तथा अवकाश पर आदि आदर्श समाज तथा सभ्यता के विकास इत्यादि पर कुछ अर्थपूर्ण विवेचनाएं की हैं।[1]

धार्मिक संहिता के अन्तर्गत **नन्दी** तथा **आवश्यकसूत्र** जिनके पश्चात आने वाली शताब्दियों में जैन आचार्यों की एक सूची प्रस्तुत करते हैं (एक जैन **वंश** के तुल्य) इस प्रकार वे जैन इतिहास का, तथा जिनके पश्चात के भारतीय इतिहास के काल का उपक्रम करते हैं। इन ग्रन्थों में से द्वितीय, विविध प्रकार के कथानकों से इतिहास का विस्तार करते हैं। जैनधर्म का यह इतिहास परवर्ती काल में भी जारी रखा गया, और हेमचन्द्र (बारहवीं शताब्दी) का **परिशिष्टपर्वन्** जिसके अन्तर्गत मौर्यों तक के मगध के राजा हैं, इसी का एक प्रकार का पाठान्तर, अथवा कम से कम इसका सबसे अधिक प्रसिद्ध पाठान्तर है। जैन सम्प्रदायों के बहुत से आचार्यों की सूचियां (**पट्टावलियां** तथा **गुर्वावलियां**) तथा कथानक हैं, जिनकी भारतीय काल-गणना को बहुत बड़ी देन है। परवर्ती काल के विविध प्रकार के जैन ऐतिहासिक ग्रन्थ, जिनके समय के पश्चात् की घटनाओं का अंशतः वर्णन, आरंभिक मध्ययुग पर्यन्त करते हैं। नवमी शताब्दी पर्यन्त उनको भारत के सामान्य इतिहास से सम्बद्ध माना जा सकता है, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न प्रदेशों को अपने अन्तर्गत कर लेते हैं, जिसको भारत के इतिहास की प्रधान सरणि माना जा सकता है, उसका भी संस्पर्श करते हैं—मगध, सातवाहनवंश, शकवंश, गुप्तवंश (तथा) कान्यकुब्ज के वंश। उसके पश्चात वे पश्चिम भारत पर ही सीमित हो जाते हैं। मालव, राजस्थान और विशेषतः गूर्जर (गुजरात), जहां पर, जैन, वस्तुतः केन्द्रित

---

1. यह उल्लेख कर दिया गया है कि गुप्त वंश के राज्य की पूर्ण अवधि 231 वर्ष थी। कल्किराज (मिहिरकुल हूण ?) ने तब 32 वर्ष तक राज्य किया (60, 491-2)

हो गये। (नीचे हम, इन प्रदेशों के उत्तर कालीन इतिहास लेखन में जैनों के योगदान का उल्लेख करेंगे।) दूसरी ओर वे केवल कुछ एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तियों को चुनने में स्वेच्छया आचरण करते हैं और प्रायः धारा-बद्ध इतिहास प्रस्तुत नहीं करते। (धारा-क्रम अन्यत्र प्राप्य, आचार्यों की पट्टावलियों से प्राप्त होता है।)

इन ग्रन्थों में से सर्वाधिक द्रष्टव्य प्रभाचन्द्र का **प्रभावक चरित** (तेरहवीं शताब्दी) है, जो कि 'सातवाहन', विक्रमादित्य जिसकी पहचान चन्द्रगुप्त द्वितीय से की जानी चाहिए) और शकों का जिनका विनाश, उसने स्वयं सम्राट बनने के लिए किया, हर्ष (पुष्यभूति) तथा कान्यकुब्ज के यशोवर्मन् (आरंभिक आठवीं शताब्दी—प्रभाचन्द्र के अनुसार मौर्यों का वंशज) जिनके पश्चात् नागभट (द्वितीय गुर्जर-प्रतिहार), और भोज (प्रथम) तथा (पाल वंश के) धर्मपाल हुए। परन्तु प्रभाचन्द्र की रुचि मुख्यतः साहित्य के इतिहास में है (जिसमें ऐहलौकिक साहित्य भी शामिल है) तथा उन प्रसिद्ध जैन आचार्यों के कथानकों में जो कि इन राजाओं से सम्बद्ध समझे जाते हैं। इस श्रेणी के अन्य ग्रन्थ हैं, जिनभद्र की **प्रबन्धावली** (जिसका प्रकाशन इसी श्रेणी के कुछ लघुतर ग्रन्थों के साथ **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह** के नाम की एक पुस्तक में हुआ है); मेरुतुंग की **प्रबन्धचिन्तामणि**, जिनप्रभ का **विविधतीर्थकल्प** तथा **पाटलिपुत्रकल्प** (मौर्य सम्राट् सम्प्रति तथा आचार्य सुहस्तिन) एवं राजशेखर (द्वितीय, चौदहवीं शताब्दी) का **प्रबन्धकोश**। विक्रमादित्य का आख्यान, अंशतः **कालकाचार्यकथानक**, में भी दिया गया है, जिसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं। विश्व-विज्ञान पर यतिवृषभ की रचना **तिलोयपण्णत्ति** में इतिहास पर कुछ सूचना विद्यमान है (गुप्त-वंश: I, 95-99)

पौराणिक इतिहास की समाप्ति के पश्चात् आने वाले समय की भारतीय काल-गणना में एक असाधारण भ्रान्ति का प्रवेश हो गया है। (चन्द्रगुप्त) द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की (ऐसा ही कुछ अन्य गुप्त सम्राटों तथा कुछ परवर्ती राजाओं ने भी किया)। अब, एक सम्वत्सर जो ई० पू० 58-57 से आरम्भ होता है, विक्रम सम्वत् के नाम से प्रज्ञात है। इसका वास्तविक उद्भव अन्धकार में है, और **पुराण** इस विषय में कुछ भी सहायता उपस्थित नहीं करते, यद्यपि वे इस काल पर लिखते हैं। परवर्ती मध्य-युगीन काल-गणकों (प्रभाचन्द्र समेत) ने किसी प्रकार यह धारणा बना ली है कि यह विक्रमादित्य ही था जो कि विक्रम सम्वत् का प्रवर्तक था, यद्यपि दोनों में 400 वर्ष से भी अधिक का अन्तर था। इस प्रकार की भूल का, जो इस अभिलाषा को छोड़कर कि एक लोकप्रिय सम्वत्सर को एक विख्यात भारतीय सम्राट् से सम्बन्ध किया जाए, स्वयं **पुराणों** की भारी भूलों के समान है, जिसका एकमात्र समाधान, शकवंश का समूचा निराकरण है (और सचमुच कुषाणों का भी) जो कि उज्जयिनी पर चन्द्रगुप्त

द्वितीय की विजय पर्यन्त लगभग ई० पू० 395 तक शासन करते रहे। इस प्रकार यह आख्यान उन शकों (जो ईरानी, वस्तुतः सिथियन) का उल्लेख करता है जिन्होंने सिन्धु को जीतकर तत्पश्चात् उज्जयिनी पर अधिकार किया, परन्तु उन पर विक्रमादित्य की विजय को कुछ वर्ष पश्चात् ही रखता है। विक्रमादित्य के समकालीन के रूप में, जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर को बीच में लाकर, प्रभाचन्द्र, इस बात के एक भूल होने का साक्ष्य उपस्थित कर देता है। अब, सिद्धसेन, अन्य साक्ष्य के आधार पर बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का समकालीन प्रतीत होता है जो चन्द्र द्वितीय का समकालीन तो भले ही रहा होगा, परन्तु वह ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से पूर्व का नहीं हो सकता। (जहां तक ई० पू० 58-57 में आरंभ होने वाले सम्वत्सर की बात है, सबसे पहले शिलालेख, जिनका दिनांकन इस सम्वत्सर ने किया जाने का हमें ज्ञान है, किसी विक्रम का उल्लेख नहीं करते, अपितु इसके उद्भव के लिए एक मालवगण का नाम देते हैं। इस प्रकार, ऐतिहासिक इतिवृत्त से, लोकतन्त्रात्मक शासन की परम्परागत कथाओं को मिटा देने का प्रेरक हेतु पुनः हमारे सामने आता है। हमें यह ज्ञात है कि पुरातन काल में मालव गण पंजाब में बसा हुआ था। पीछे से वे राजस्थान में जाकर बस गये। यह उस समय हुआ होगा जब उन्होंने ई० पू० प्रथम शताब्दी में (आरंभ होने वाले) अपने सम्वत्सर की स्थापना की। उत्तर-मध्य युग में जो देश मालव की संज्ञा से प्रख्यात हुआ वही प्राचीन अवन्ती है जहां पर संभवतः छठी शताब्दी में गुर्जरों के राजस्थान में प्रवेश करने के पश्चात् प्रत्यक्ष रूप में वही लोक (मालव) फिर आ बसे इस कारण मालव सम्वत् का सम्बन्ध अवन्ती तथा इसकी प्राचीन राजधानी उज्जयिनी से हो गया)।

विक्रमादित्य के सम्बन्ध में कथानकों के चक्र से द्वितीय श्रेणी के इतिहास लेखन के कार्य का अन्तिम पड़ाव दिखाई पड़ता है; जिसकी हमने बौद्धों द्वारा लिखे गये बुद्ध के जीवन-चरितों के सम्बन्ध में चर्चा की है। ये कथानक उनके नायक के वास्ततिक समय से पांच या (इससे) अधिक शताब्दियां पीछे के हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय का वास्तविक महत्त्व यह था कि उसने, अन्ततः गुप्त साम्राज्य को एक प्रभावशाली साम्राज्य के रूप में समस्त भारत पर स्थापित कर दिया, और सार्वभौम सम्राट के प्राचीन भारतीय स्वरूप को थोड़ा-बहुत साकार बना दिया। इससे एक नये मध्यकालीन समाज के निर्माण के कार्य की पूर्ति का आश्वासन प्राप्त हुआ। (एक परम संरक्षक अधिराज तथा उसके कुल-क्रमागत सामन्तों का एक 'सामन्तवादी' साम्राज्य जो मगध के प्राचीन राष्ट्र से, जिसमें पूर्ण राजसत्ता केन्द्र के हाथ में थी तथा जिसके राजकर्मचारी समस्त भारत पर छाये हुए थे, भिन्न था) इसकी प्राप्ति के लिए उसने दो मुख्य कार्य किये। अपनी पुत्री का विवाह वाकाटक सम्राट् रुद्रसेन द्वितीय के साथ सम्पन्न करके उसने वाकाटकों के साथ

अपनी मैत्री को सुदृढ़ बनाया जिसके फलस्वरूप दोनों साम्राज्य मिलकर एक हो गये। उसने इन दोनों (वंशों) के सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी, शक वंश को नष्ट कर दिया जिसने कई शताब्दियों तक अपनी राजधानी उज्जयिनी से पश्चिम भारत के भाग पर अपना प्रभुत्व जमाया हुआ था। इस प्रकार गुप्त साम्राज्य का विस्तार उत्तर-भारत के आर-पार एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक हो गया। कथानक में उसके द्वारा शकों के विनष्ट किये जाने के केवल एकमात्र तथ्य को ही स्थान दिया गया है। उसके चरित के सब विस्तृत वर्णन स्मृतिपटल से मिट गये हैं। (कुछ घटनाएं दूसरे साहित्य में लेखबद्ध की गयी थीं। विशाखदत्त कृत **देवीचन्द्रगुप्त**, जो कि घटना के केवल दो शत वर्ष पश्चात् ही लिखा गया, शकों के पतन का सविस्तार वृत्तान्त प्रस्तुत करता है। निःसन्देह नाटक को हृदयग्राही बनाने के लिए, इसमें पर्याप्त परिवर्तन किये गए हैं। कल्हण ने उसके (विक्रमादित्य के) द्वारा साहित्य को संरक्षण प्राप्त होने की बात लिखी है तथा उत्तर-पश्चिम में कुषाण राज्य के अन्त हो जाने के पश्चात् काश्मीर में राज्य की व्यवस्था करने का भी उल्लेख किया है। साहित्य तथा दर्शन को संरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध में, तथा वीर-काव्य के क्षेत्र में उसके अपने योगदान के वृत्तान्त अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं।) इसके स्थान पर हमें जो कुछ मिलता है वह केवल रोचक कहानियां हैं जो कि उसके व्यक्तिगत साहस, उसकी दानशीलता तथा अनुकम्पा, एवं न्याय तथा विद्वत्ता के प्रति निष्ठा, तथा उसकी विद्वानों और लेखकों की विदग्ध परिषद् का दिग्दर्शन करवाती हैं। सत्यभूत नायक को पूर्णरूप में काल्पनिक बना दिया गया है, और उसको एक आदर्श सम्राट् प्रदर्शित करके सरल बना दिया है मानो कि उसकी एक मूर्ति ही शेष रह गयी है, जो कि एक अत्यन्त उदार संकेत मात्र कर रही है, और शेष सब कुछ, अनुमान अथवा कल्पना से ही जानना है।

इन जैन ग्रंथों के अतिरिक्त, जिनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है, विक्रमादित्य के इस व्यक्तित्व पर आश्रित, हमारे पास तीन कल्पित ग्रन्थ हैं जिनके लेखक अज्ञात हैं, परन्तु वे इतने सर्वप्रिय हैं कि पुनः-पुनः अनेक पाठान्तरों में लिखे गए हैं। **वैतालपंचविंशति** हास्यपूर्ण कहानियों का एक संग्रह है जिनका अन्त पहेलियों में होता है, और जो वैताल द्वारा विक्रम को उसके साहस के परीक्षण के लिए सुनाई जाती हैं। (इससे उसके सम्राट् होने की योग्यता प्रदर्शित की गयी), **सिंहासनद्वात्रिंशिका**, स्वयं सम्राट् के विषय में कहानियों के एक संकलन के द्वारा वीरता तथा उदारता की शिक्षा देती है। **माधवानलकामकन्दला** में एक प्रेमाख्यायिका को दुःखान्त होने के स्थान पर साहसी विक्रमादित्य को बीच में लाकर सुखान्त बना दिया गया है। उत्तर-मध्य युग की इन कल्पित कथाओं का विवेचन करके वस्तुतः हमने आने वाली घटनाओं का उल्लेख पहले ही कर दिया है! वे हमें

यह स्मरण कराने का कार्य करती हैं कि किसी भी गुप्त सम्राट् के समकालिक इतिहास अथवा जीवन-चरित विद्यमान हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता, यद्यपि यह कल्पना करना कठिन है कि उन्होंने अपने राजकवियों को इनके लिखने से परिवर्जित किया हो। मध्ययुगीन भारत के असंख्य राजाओं के जीवन वृत्तान्त के बहुत कम ग्रन्थ बचे रह गए हैं, परन्तु यह प्रमाणित करने के लिए कि राजकीय इतिहास-लेखकों को नियुक्त करने की नियत प्रथा विद्यमान थी, पर्याप्त (ग्रन्थ विद्यमान) हैं। इतिहास की ऐसी पुस्तकों या चरितों का सुरक्षित रह जाना, प्रायः उनके ऐतिहासिक गुण की अपेक्षा उनके साहित्यिक गुण पर आश्रित देखा जाता है। राजाओं की यह प्रथा कि वे अपने चरितों का गुण-गान करवाएं, निश्चित ही सूत की पुरातन संस्था के अनुक्रम में था।

अध्याय-7

मध्य-कालीन चरित-काव्य—बाण

मध्यकालीन जीवन-चरित (आख्यायिका) का प्रतिनिधि बाण का **हर्षचरित** (सातवीं शताब्दी) है जो उसने अपने समकालीन पुष्यभूति (कुल के) हर्ष पर (लिखा) जो कि कान्यकुब्ज में उत्तर-भारत के समाट् की पदवी पर प्रतिष्ठित हुआ। यह सार्थक बात है कि बाण एक भार्गव था और इसी कारण उसकी प्रवृत्ति इतिहास की ओर वंश-परम्परा से रही होगी, अथवा हर्ष ने उसे उसकी कुल-क्रमागत गुण-सम्पन्नता के कारण, राजकीय इतिहास-लेखक के रूप में अपना प्रसाद पात्र बनाया होगा। परन्तु उसका चरित-काव्य एक कलात्मक कृति है, सीधे प्रकार से इतिहास नहीं, और यह साहित्य की उस शाखा से सम्बन्ध रखती है जिसे **काव्य** (साहित्य एक कला के रूप में) कहा जाता है जिसमें रसात्मक आदर्श और शैली सर्वोपरि होती हैं। वस्तुतः हम यह देखते हैं कि कम से कम ईषु पश्चात् प्रथम शताब्दी से लेकर, और संभवतः किसी सीमा तक इससे भी बहुत पहले, काव्य शैली के साहित्य ने **इतिहास** के पूर्व कालीन क्षेत्र में प्रवेश आरंभ कर दिया था। परम्परागत वीर-गाथाओं का स्थान, एक ही कवि के, जैसे कि अश्वघोष, के महाकाव्यों ने, नाटकों (नाटक भी काव्य की एक शाखा माना जाता था), आख्यायिका (गद्य में लिखी जीवनी) ने, यहां तक कि उपन्यास (यह भी काव्य ही है) ने ले लिया था। इतिहास-लेखन के लिए इसके परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण थे, क्योंकि काव्य की परिभाषा निश्चित करने के अधिकतम प्रयत्न इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह विचार व्यक्त करने की बहुत-सी अन्य विधाओं से भिन्न है क्योंकि यह वक्र, सालंकार, उद्देश्य मुक्त और निश्चित रूप से रस-निष्पत्ति की भावना से रचित किया हुआ होता है, न कि तथ्यों के वर्णन के लिए, यद्यपि इसमें सदाचार शिक्षण का समावेश किया जा सकता है। राजा अपने आप को नाटकों, महाकाव्यों तथा अन्य ऐसी रचनाओं के नायकों के रूप में, देखकर प्रसन्न होते थे। जिनके साहसपूर्ण कार्य उनके अपने जीवन से बहुत कम समानता रखते थे, परन्तु जिनमें विचक्षण तथा प्रशंसापरक संकेत विद्यमान रहते थे, जिनको समकालीन

श्रोता समझ सकें। जहां तक आने वाली पीढ़ियों तथा कवियों की रचनाओं द्वारा एक प्रकार के अमरत्व की प्राप्ति की आशा जो निश्चित रूप से बंधी रहती थी, की बात है, हमें कभी-कभी ऐसा लगता है कि विजयी नायक का अमरत्व, उसके सेनानियों की अपेक्षा, उसके कवियों के कौशल पर अधिक निर्भर रहता था यद्यपि उनके पास आधार का कुछ आभास अवश्य रहा होगा जिस पर वे (रचना का) कार्य करते थे। चाहे जो भी हो लेखक की अपनी प्रतिभा का उन्मेष तथा चमत्कार ही, भावी पीढ़यों के हृदयों में उनकी स्मृति को नवता प्रदान करने की संभावना प्रस्तुत करता था। इस प्रकार उन रचनाओं के अतिरिक्त जिनको हमने दूसरी श्रेणी का इतिहास लेखन कहा है, और जिनमें प्राचीन इतिहास के उद्धृत कहानियों का प्रयोग महाकाव्य, नाटक इत्यादि की सामग्री के रूप में किया जाता था, तथा ऐतिहासिक तथ्य का स्थान साहित्यिक तथ्य ले लेता था, प्रथम श्रेणी का इतिहास लेखन भी, कला को ही प्रथम स्थान प्रदान करता है।

बाण का दृष्टिकोण देखने में आकस्मिक घटनाओं के एक क्रम का वर्णन करना नहीं, जैसे कि वे घटी होंगी, परन्तु इसके स्थान पर, वह नायक द्वारा एक विशेष ध्येय की प्राप्ति उन घटनाओं सहित जिनका यह निश्चित परिणाम थी, दिखाना चाहता था। हर्ष को सम्राट् बनना ही था यद्यपि उसके जन्म के समय इसकी किंचितमात्र आशा भी नहीं की जा सकती थी, क्योंकि वह मौखरी सम्राट् के एक सामन्त मात्र का कनीयान् पुत्र था। परन्तु उसके पूर्वज पुष्यभूति को स्वयं लक्ष्मी (श्री) का वरदान मिल चुका था कि वह एक ऐसे राजकुल की स्थापना करेगा, जिसमें हर्ष नाम का एक राजा सम्राट् बनेगा, और वह उसकी परिचारिका होगी। **काव्य** साहित्य में ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथाओं दोनों में ही अन्त में नायक का एक विशेष स्त्री से संयोग, प्रायः उसके अन्तिम ध्येय की संलब्धि का प्रतीक होता है। क्योंकि आधिपत्य को लक्षणा से विशेष रूप में लक्ष्मी-देवी अथवा राज्य-श्री (**श्री**) माना जाता था, इसलिए श्रीदेवी के साथ अथवा पार्थिव स्त्री के साथ जो किसी प्रकार लक्ष्मी का प्रतिनिधित्व करती थी, संयोग हो जाने को नायक द्वारा लक्ष्मी की प्राप्ति दिखाया जा सकता था। **हर्षचरित** में नायक की भगिनी लक्ष्मी की प्रतीक है, क्योंकि वह मौखरी सम्राट् से विवाह करती है, और इस प्रकार सम्राट् और सामन्त[1] के परिवार की मैत्री को सुदृढ़ बनाती है।

---

1. मूल लेखक A. K. Warder ने राज्य के पिता प्रभाकरवर्धन को यहां सामन्त कहा है। हमारे विचार में यह एक भ्रान्ति है। हर्ष के मधुवन तथा बांसखेड़ा से उपलब्ध ताम्रपत्रों में प्रभाकरवर्धन को परम भट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि दी गई है। बाण ने भी हर्षचरित में ही उसे राजाधिराज कहा है। अतः उसे मौखरियों का सामन्त कहना भूल प्रतीत होती है। (अनुवाद कर्ता-जगन्नाथ अग्रवाल)

बाण के अनुसार उसका वास्तविक नाम राज्यश्री था, जिसकी पर्याप्त संभावना है, विशेषतः इसलिए क्योंकि उसके भ्राताओं में बड़े की संज्ञा राज्यवर्धन थी, और यह कोई असाधारण प्रथा नहीं थी कि भ्राताओं और भगिनियों को समान रूप वाले नाम दिये जाएं ।

आख्यायिका का केन्द्रीय भाग इस प्रकार है, कि साम्राज्य पर गौड़ (मगध) और मालव (अवन्ती) संगठन द्वारा आक्रमण किया जाता है । यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि मौखरी सम्राट् अधिक शक्तिशाली नहीं है । स्वयं सम्राट् की हत्या हो जाती है, और राज्यवर्धन जो कि अभी-अभी अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् राजा बन चुका है, उसका (अपने पिता का) प्रतिशोध लेने के लिए अभियान करता है और मारा जाता है । क्योंकि मौखरी सम्राट् का कोई दामाद नहीं था, साम्राज्य का आधिपत्य उसी पर संक्रान्त होगा जो सामर्थ्यपूर्वक अपना अधिकार स्थापित कर सके। हर्ष सेना लेकर शत्रुओं को खदेड़ने के लिए अभियान करता है, परन्तु युद्ध का संचालन अपने सेनापतियों को सौंपकर, स्वयं अपनी भगिनी के त्राण के लिए चला जाता है, जो कि आक्रमण के पश्चात् जंगल में निष्क्रमण कर गयी थी। बाण युद्ध के विस्तृत वर्णन में कोई दिलचस्पी नहीं लेता (यह सत्य है कि उसके पाठकों को यह ज्ञान था कि उसकी सेना ने विजय प्राप्त कर ली थी । इसलिए लेखक का यह विषय नहीं था कि वह उनको इस सुविदित तथ्य से परिचित करवाए) वह, हर्ष और उसकी अभागिनी भगिनी राज्यश्री के मिलन तथा राज-लक्ष्मी की प्राप्ति पर अपने वर्णन को समाप्त कर देता है । इस प्रकार और संभवतः ऐतिहासिक सत्य का भी अत्यधिक अपक्रमण, जैसा कि आधुनिक पाठक समझेंगे, न करके, बाण अपने पाठकों को यह स्पष्ट कर देता है कि हर्ष वैध रूप से साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। यही उसका मूल ध्येय था ।

अध्याय-8

ऐतिहासिक महाकाव्य—वाक्पतिराज और पद्मगुप्त

हर्ष के सौ वर्ष पश्चात् वही साम्राज्य जिसकी राजधानी कान्यकुब्ज थी, यशोवर्मा के शासन में आया। प्रभाचन्द्र के अनुसार वह मौर्य वंश का था जिसने पुरातन काल में मगध के सबसे महान् राजकुल को जन्म दिया था। कुछ काल तक उसने अत्युन्नत सफलतापूर्वक विजयी का जीवन व्यतीत किया। एक ओर तो उसने मगध (गौड़) के राजा को परास्त किया, और दूसरी ओर अरबदेशीयों को जिन्होंने सिन्धु पर आक्रमण कर दिया था। इसके अतिरिक्त और भी अनेक विजयों का श्रेय उसे प्राप्त था। उसके राज-कवि वाक्पतिराज ने उसके द्वारा गौड़ के राजा के वध के विषय पर एक अद्भुत तथा उत्कंठापूर्ण स्मृति युक्त **गौड़वध** महाकाव्य लिखा, जिसकी साहित्य के मर्मज्ञों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। परन्तु इस सुविख्यात विजय का काव्य के आरम्भ में, केवल प्रसंगवश उल्लेख मात्र किया गया है। जैसे ही यशोवर्मा अग्रसर हुआ, मगध का राजा भाग गया। तत्पश्चात् उसके कुछ सामान्त डटे रहे और उन्होंने महान् युद्ध किया, परन्तु वे नष्ट कर दिये गये जिसके पश्चात् यशोवर्मा ने (गौड़ नरेश का) पीछा किया और मगधराज का वध कर दिया, तथा उसने अपनी विजय-यात्रा भारत की चारों दिशाओं में जारी रखी (एक सम्राट् के लिये नियमबद्ध विजय क्रम)। उसने बंगाल (बंग) के राजा को जीता, सुदूर दक्षिण में अभियान किया। वहां से पश्चिम को गया और पारसीकों (ईरानियों) को जीता, और अन्ततः उत्तर में हिमालय पर आक्रमण किया।

अन्य स्रोतों से (पुराभिलेख तथा इतिहासकार कल्हण) ज्ञात होता है कि यह सत्य था कि उत्तर भारत में यशोवर्मा का एक विशाल साम्राज्य था जिसके अन्तर्गत मगध था और जो बंगाल में समुद्र तक फैला हुआ था। (यह भी सत्य है) कि उसने अरबों को परास्त किया और सिन्धु में उसका आधिपत्य स्वीकार करने

के लिए बाध्य किया, और यह भी, कि दक्षिण में चालुक्यों के साथ एक युद्ध हुआ जिसका परिणाम संभवतः स्पष्ट नहीं था, परन्तु जिसमें उसके शत्रु इतने दुर्बल हो गये कि अल्पकाल के पश्चात् वे अपने सामन्तों (राष्ट्रकूटों)द्वारा ही पराभूत हो गये। परन्तु तत्पश्चात् यशोवर्मा, काश्मीर के राजा ललितादित्य के साथ युद्ध में उलझ गया और अन्ततः पराजित हुआ।

वाक्पतिराज के काव्य का अधिकांश वर्णनात्मक है; और यशोवर्मा की युद्ध-यात्रा को एक सैनिक अभियान की अपेक्षा, एक विहार यात्रा का रूप प्रदान करता है। विश्व की विजय अवश्यंभावी प्रतीत होती है। यह आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि हमें यह बता दिया गया है कि यशोवर्मा विष्णु का अवतार है। सुन्दर कामिनियों के मण्डल में नायक का वर्णन, शोभा की प्राप्ति में समाप्त हो जाता है। तथापि यहां पर भूतकाल की मधुर स्मृतियों का वातावरण रहता है, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। पुण्य और पाप पर, वर्तमान काल की निःसारता पर, जिसमें सफलता सामान्यता के लिए ही निश्चित है, और गुणोत्कर्ष से सावधानता पूर्वक दूर रखी जाती है। कवि ने जिस समय, एक सम्राट् के विषय में शोक प्रकट किया जो कि कवियों का संरक्षक था और स्वयं भी एक नाटक-लेखक था, जिसकी स्मृति गुणज्ञों के उस समाज को प्रिय हो, जिसके समक्ष वाक्पतिराज ने अपना महाकाव्य पढ़ा, संभवतः उससे पहले ही नायक का हृदय-विदारक अन्त हो चुका था। वाक्पतिराज ने, स्यात् कृतज्ञतापूर्ण स्मरण के कारण, यशोवर्मा की क्षणिक सैनिक विजयों के स्थान पर एक स्थिरतर काव्यमयी विजय को स्थान दे दिया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में पद्गुप्त ने अवन्ती (मालव) के राजा सिन्धुराज पर एक महाकाव्य लिखा। यद्यपि यह महाकाव्य सत्य घटनाओं के आधार पर लिखा गया है, जैसा कि पाठक ने सिद्ध कर दिया है, इसकी कथा को एक कल्पित कथानक में परिवर्तित कर दिया गया है, जिसमें राजा का संयोग एक नाग राजकुमारी शशिप्रभा के साथ हो जाता है, जिससे वह एक सार्वभौम सम्राट् बन जाता है। वस्तुतः इस कथा के नाग, कर्णाटक के सिंद वंश के राजा हैं, जिनके विषय में यह समझ लिया गया है कि वे नागों के वंशज हैं, जो कि परमारों के सामन्त थे। वज्रांकुश दैत्य, जिसका वध, शशिप्रभा को प्राप्त करने के लिए सिन्धुराज के लिए आवश्यक था, दक्षिण महाराष्ट्र के शिलाहर वंश का एक राजा था, जो कि उसके शत्रु अभिचारकों का वंशज समझा जाता था। यद्यपि यह कथा कुछ अंश में विलक्षण है, जिसमें सिन्धुराज पाताल में प्रवेश कर गया, नर्मदा नदी का देवी के रूप में हस्तक्षेप, इत्यादि, (परन्तु) अनुमानतः उस समय के पाठक बड़ी आसानी से ये ऐतिहासिक संकेत समझ सकते होंगे? (काव्य में) सार्वभौम साम्राज्य की सामान्य भविष्यवाणी इस प्रसंग में विद्यमान है।

शशिप्रभा के जन्म लेने पर ज्योतिषियों ने समावेश किया था कि वह एक सार्वभौम सम्राट् की पत्नी बनेगी (प्रस्तुत विषय में यह एक महती अतिशयोक्ति है।) इस प्रकार पृथ्वी के एक साधारण राजा की पदवी को उसके इतिहास की एक रहस्यात्मक व्याख्या द्वारा अत्युन्नत करने के निमित्त, अतिमानुषी शक्तियों को बीच में लाया गया है। अपने नायक के पूर्व पुरुषों के विषय में कहने के लिए पद्मगुप्त के पास कुछ महत्त्वपूर्ण बातें भी हैं।

परवर्ती काल में परमारों को राजपूत मान लिया गया है। संस्कृत में **राजपुत्र** 'राजकुमार परन्तु इसका हिन्दी रूप एक विशेष'अर्थ में', राजस्थान और इसके आसपास इन विशेष राजपुत्रों का स्थान अथवा 'देश' के राजवंशों के एक सीमित वर्ग के लिये प्रयोग में आने लगा है। सिन्धुराज को, जब वह एक आश्रम में था, (काव्य के ग्यारहवें सर्ग में) उसके वंश के उद्भव की कहानी बताई जाती है। वह घटना अर्बुद पर्वत पर (जो गुजरात और राजस्थान की वर्तमान सीमा निर्धारित करता है) वैदिक काल में, सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु के पुरोहित वशिष्ठ के आश्रम में घटी थी। (इस प्रकार इनका उद्भव, प्राचीन सूर्यवंश के उद्भव के समय से अंकित किया जाता है)। विश्वामित्र, एक क्षत्रिय जिसने ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था, वशिष्ठ की कामधेनु का अपहरण करके ले गया। तब, वसिष्ठ ने अपनी आहवनीय अग्नि में एक आहुति डाली, जिसमें से एक सशस्त्र योद्धा जो मुकुट पहने हुए था, प्रकट हुआ। इस योद्धा ने धेनु को पुनः पकड़ लिया और वसिष्ठ ने इसको परमार (शत्रुओं का वध करने वाला) की संज्ञा प्रदान की। उसका वंशज राजा उपेन्द्र था (ई० पू० नवम शताब्दी के आरंभ में) जिसके पश्चात् अनुक्रम से सिन्धुराज के सन्निहित पूर्वज हुए। (वस्तुतः उपेन्द्र को राष्ट्रकूट सम्राट् ने अवन्ति में अपने सामन्त के रूप में प्रतिष्ठित किया था, और दशवीं शताब्दी का एक पुराभिलेख (E. I. XIX, 236ff) बताता है कि एक परमार राजा उस अधिराज वंश में उत्पन्न हुआ था, जिसको उसके उत्तराधिकारियों ने भुला देना अधिक अच्छा समझा। दशवीं शताब्दी के मध्य में गुर्जर-प्रतिहारों द्वारा अवन्ति की अस्थायी विजय के पश्चात् परमार अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल हुए।) सिन्धुराज को नव-साहसांक भी कहा जाता है (साहसांक विक्रमादित्य का दूसरा नाम था) और वह विक्रमादित्य तथा भूतकाल के अन्य महान् शासकों का स्थान प्राप्त कर लेगा। (नायक के नाम के अनुकरण में महाकाव्य को **नवसाहसांक चरित** कहा जाता है।)

आहवनीय अग्नि से परमारों की उत्पत्ति की कल्पित कहानी, (दूसरे शब्दों में अग्नि देवता से) लोक सम्मत सिद्ध हुई और परवर्ती काल में दूसरे राजपूत वंशों द्वारा उनकी उत्पत्ति के विषय में उनकी अपनी परम्परागत वार्ताओं का अतिक्रमण करके अपना ली गयी। एवं हिन्दी वीर-काव्य **पृथ्वीराज रासो** (मूल रूप में

बारहवीं शताब्दी के एक अपभ्रंश काव्य का अत्यन्त प्रक्षेपपूर्ण ब्रज पाठान्तर) में कहा गया है कि अर्बुद पर्वत पर आहवनीय अग्नि से चार योद्धा इस अनुक्रम से उत्पन्न किये गये—प्रतिहार, चौलुक्य, परमार और चाहमान। वसिष्ठ ने उन सबका सृजन, राक्षसों द्वारा यज्ञ को भ्रष्ट किये जाने से बचाने के लिए किया था। परन्तु परमारों के अतिरिक्त इन वंशों के पूर्वतर इतिवृत्तों में उनकी उत्पत्ति का यह वर्णनान्तर विद्यमान नहीं है। यह परवर्ती काल की एक बनावटी कहानी है जो कि राजस्थान के राजपूतों के सबसे अधिक प्रसिद्ध चार राजवंशों को, जो उनके देश पर आक्रमण करने वाले मुसलमान तुर्कों के विरुद्ध लम्बे संघर्ष में हिन्दू धर्म के संरक्षक थे, इकट्ठा कर देती है। जिस प्रकार ये योद्धा काल्पनिक काल में वैदिक कर्म-काण्डी की, राक्षसों से रक्षा करने के लिए उत्पन्न किये गये थे ठीक उसी प्रकार उत्तर-मध्य काल में उनके वंशज, म्लेच्छों द्वारा भारतीय परम्पराओं को भ्रष्ट किये जाने से बचाने के लिए संगठित हुए। पुराणों की प्राचीन क्षत्रिय अभिजात श्रेणी परिसमाप्त हो चुकी थी, परन्तु किसी अलौकिक कर्म से इन रहस्यमयी अग्नि कुलों के वंश बचे रह गये थे, यद्यपि वे अन्धकार में थे और प्राचीन इतिहास ग्रंथों में अज्ञात थे और आपातकाल में प्राचीन वैध भारतीय वंशों के लुप्त हो जाने से उत्पन्न हुए रिक्तस्थान की पूर्ति के लिए पुनः प्रकट हुए थे।

अध्याय-9

चालुक्य तथा राष्ट्रकूट इतिहास लेखन

वाकाटकों के पतन के पश्चात् छठी शताब्दी में चालुक्य वंश ने दक्षिण (महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा आन्ध्र) में आधिपत्य की पदवी प्राप्त की । आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों ने उन्हें विस्थापित कर दिया। परन्तु दशमी शताब्दी में चालुक्यों की एक शाखा ने स्थिति में पुन: परिवर्तन कर दिया और (चालुक्य फिर) बारहवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य करते रहे। राष्ट्रकूट अपने आपको यादव मानते थे। उनके सम्राट् कृष्ण तृतीय (दशम शताब्दी) का यशोगान, हलयुद्ध ने अपने **कवि रहस्य** में किया जिसमें संस्कृत की धातुओं के विषय में कुछ कठिन स्थलों की व्याख्या के साथ ही (उन्हीं शब्दों के माध्यम से) शासन करने वाले राजा की स्तुति भी की गयी है। एक राजा का इस प्रकार का द्वयार्थक वृत्तान्त इस समय से आगे तक लोकप्रिय हो चुका था और प्राय: यह कवि को सीधा प्रतिबिम्बित करने के स्थान पर **गौड़ वध** से भी बहुत आगे ले जाता है। ऐतिहासिकों के लिए इससे कहीं अधिकतर उपयोगी कर्नाटक के महाकवि पम्प का महाकाव्य (कन्नड़ भाषा में) **विक्रमार्जुन विजय** है, जिसमें राष्ट्रकूटों के एक चालुक्य सामन्त (अरि केसरी द्वितीय—अर्जुन) का यशोगान **महाभारत** की कथा का पुन: वर्णन करके तथा अपने नायक का युधिष्ठिर के भ्राता अर्जुन के साथ समीकरण करके तथा उसको प्राचीन काव्य का असली नायक चित्रित करके किया है। (संभवत: इस व्याख्या में महाकवि भारवि के **किरातार्जुनीय** का अनुकरण किया गया है) अपने मिश्रित काव्य में पम्प ने समकालीन इतिहास पर्याप्त मात्रा में समाविष्ट किया है, जिसके अन्तर्गत राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्र तृतीय (कृष्ण तृतीय का पूर्ववर्ती राजा) की युद्ध-यात्राएं भी हैं। इसके साथ ही इस बात को न्यायसिद्ध किया गया है कि उसके पुत्र गोविन्द चतुर्थ को उसके चाचा का पक्ष लेकर सिंहासन से क्यों उतार दिया गया था।

न्याय-संगत बनाने का एक अधिक बृहद् प्रयास परवर्ती चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य चतुर्थ पर (लिखा गया) बिल्हण (ग्यारहवीं शताब्दी) का महाकाव्य

विक्रमांक देव चरित है। यह द्रष्टव्य है कि बिल्हण, ब्राह्मणों के भार्गव गोत्र की एक शाखा (सारस्वत) में से था, जबकि कुछ चालुक्य राजा अपने आपको अंगिरा गोत्र की हारीत शाखा के वंशज कहते थे। परन्तु चालुक्यों का पितृवंश, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे इससे भी अधिक संकीर्ण हो जाता है। अग्रजत्व के विधि-नियम की अवहेलना करके छठे विक्रमादित्य ने अपने बड़े भ्राता से राजसिंहासन अनाधिकार चेष्टा से छीन लिया था। बिल्हण ने इस कृत्य को न्यायसिद्ध करने का कार्यभार अपने ऊपर लिया। यह विनोद की बात है कि जब एक राज्य के उत्तराधिकार की बात प्रश्नास्पद बन जाए तब भ्राताओं के परस्पर सम्बन्ध का यह विषय **हर्ष चरित** तथा स्वयं **महाभारत** में उपस्थित हो जाती है। स्पष्टतया, किसी भी कुलक्रमागत राज-शासन प्रणाली में यह एक गम्भीर समस्या थी और इस कारण समकालीन इतिहास लेखकों के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण विषय था। बाण के नायक के विषय में किसी प्रकार की दोष-शुद्धि की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ज्येष्ठ भ्राता का वध शत्रुओं पर आक्रमण करते हुए हुआ—गृह-युद्ध में नहीं, तथापि इस विषय में बाण सतर्क प्रतीत होता है। संभवतः कुछ ऐसे अप्रीतिकर तथ्य थे, जिनको वह छिपा रहा था और अपने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति हर्ष का भाव, वास्तव में उस आदर्श से नीचे था जिसका चित्रण बाण ने किया है और कभी-कभी तो उनके पिता की मृत्यु से पूर्व की घटनाओं का वर्णन अकुशल हो जाता है। महाभारत में विषम स्थिति इस कारण उत्पन्न हुई थी क्योंकि ज्येष्ठ भ्राता जन्मांध था, इस कारण वह वैध रूप से शासन करने के अयोग्य था। अतः छोटे भाई को सम्राट् अभिषिक्त कर दिया गया। जब यह सम्राट् अपने अंधे भ्राता से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो गया, तब उनके पुत्रों में संघर्ष उत्पन्न हो गया। एक ओर तो वैध उत्तराधिकार का अधिकार था और दूसरी ओर अग्रजत्व की असंमति।

संभवतः बिल्हण अपने आपको घटनाओं का मूल्यांकन करने में न्यायवादी समझता था, परन्तु दूसरे प्रकार के अन्य साक्ष्य जैसे कि पुराभिलेख इस धारणा का इस बात में प्रतिवाद करते हैं कि उन पाप कर्मों के पश्चात् जिनके द्वारा वह सम्राट् बना, विक्रमादित्य षष्ठ ने दीर्घकाल तक शांतिपूर्ण राज्य किया, जिसमें उसने साहित्य और विद्वत्ता को संक्षरण प्रदान किया। स्वयं बिल्हण से हम यह जानकारी प्राप्त करते हैं कि राजाओं के लिए यह बात कितने महत्त्व की थी कि कवियों के साथ उनके संबंध अच्छे हों—"उन राजाओं का यश कहां है जिनके पार्श्व में साहित्य-सम्राट् नहीं थे? इस पृथ्वी पर बहुत से राजा हुए हैं जिनके नाम भी कोई नहीं जानता। लंका के राजा (रावण) का यश निमीलित हो गया, जबकि राम यशस्वी हुआ। यह सब आदि कवि (बाल्मीकि, परम्परागत आख्यानों के अनुसार उसको राम का समकालीन माना जाता है) की शक्ति के कारण (हुआ)। इसलिए

राजाओं को चाहिए कि कवियों को अप्रसन्न न करें।"(1, 26—7) "आहवमल्ल, (विक्रमादित्य षष्ठ के पिता) को कवि सम्राटों ने एक जीवन चरित में (आख्यायिका), कथाओं में, महाकाव्य में, नाटकों में, उसके चरित्र की पवित्रता के कारण दूसरे राम की पदवी पर पहुंचा दिया।" (1, 87—8) वास्तव में बिल्हण ने भारत में भ्रमण करते हुए कुछ वर्ष एक अच्छे आश्रयदाता की खोज में बिताये थे और चालुक्य राजसभा में स्थायी रूप से स्थान ग्रहण करने के लिए उसके पास पर्याप्त कारण थे। विक्रमादित्य के कृत्यों पर प्रकाश डालते हुए, बिल्हण कहता है कि आहवमल्ल के तीनों पुत्रों में से मध्यम की प्राप्ति उनको शिव के वरदान से लक्ष्मी को समुद्र के अपर छोर से भी, राम की भांति ले आने के निमित्त हुई थी। (2, 53) आह्वमल्ल यथाकाल विक्रम को युवराज बनाना चाहता था, परन्तु इस युवा नायक ने इसको अनुचित समझकर, क्योंकि उसका भ्राता सोमेश्वर ज्येष्ठ था, इनकार कर दिया। (3, 27, 33) अतः सोमेश्वर द्वितीय अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में राजा बना, परन्तु उसका शासन अभद्र था। वह एक गर्वयुक्त अत्याचारी हो गया और अपनी प्रजा का अनुराग खो बैठा (4, 110)। तब विक्रमादित्य अपने छोटे भाई जयसिंह के साथ साम्राज्य के दक्षिण सीमा प्रान्त में चला गया, जहां वह सुदूर दक्षिण के चोल साम्राज्य की आन्तरिक राजनीति में तथा वहां के उत्तराधिकार के एक युद्ध में व्यस्त हो गया (5 तथा 6)। तब सोमेश्वर ने चोल राज्यापहारी की सहायता की जिसको विक्रमादित्य भूमिसात् कर देने का प्रयास कर रहा था (VI, 38) तथा उसने विक्रमादित्य के सामोपचारों को स्वीकार करने का केवल बहाना, उसको फांसने के लिए किया। अन्त में शिव स्वप्न में विक्रमादित्य के सामने प्रकट हुए और उसको आज्ञा दी कि वह हिचकिचाए नहीं, अपितु दुष्कर्म करने वालों का नाश करे (VI, 63-65)। विक्रमादित्य ने अपने शत्रुओं पर आक्रमण किया और महान् विजय प्राप्त की। चोल राज्यापहारी भाग गया और शिव की क्रोधपूर्ण वाणी का आज्ञा पालन करते हुए, जिसको उसने अकस्मात् सुना परन्तु देखा नहीं, सोमेश्वर द्वितीय को बन्दी बना लिया गया (VI, 93)। तब विक्रमादित्य का राज्याभिषेक किया गया। इस प्रकार कवि बड़े भाई को दुराचारी के रूप में प्रस्तुत करता है, तथा विक्रमादित्य को दयालु के रूप में जो केवल आत्म-रक्षा के लिए तथा दैवी आज्ञा के पालन के निमित्त, व्यवहार कर रहा था। इस वर्णन के पर्याप्त मात्रा में असत्य सिद्ध होने की अधिक संभावना है, यद्यपि उपरि स्तर पर यह प्रधान घटनाओं का, जिस रूप में वे जनसाधारण को ज्ञात थीं, अनुसरण करता हुआ प्रतीत होता है। यह स्वीकार कर लिया गया है कि युद्ध-विराम का भंग करके विक्रमादित्य ने ही अपने भाई पर आक्रमण किया था, परन्तु दोनों ही पक्षों के प्रयोजनों के कारण स्पष्ट कर दिये गये हैं जो कि एकरूपता से प्रीति-पात्र नायक तथा संरक्षक के लिए लाभदायक

हैं। क्या सोमेश्वर अपने छोटे भाई की तुलना में सचमुच एक निकृष्टतर शासक था, इस विषय में सब प्रकार की शंकाओं का निराकरण करने के लिए, शिव के हस्तक्षेप हमारे सामने आ जाते हैं, जिनके विषय में कोई तर्क नहीं किया जा सकता।

इस महत्त्वाकांक्षी युवक की, जिस को कवि ने एक परमदयालु नायक का रूप दे दिया है, कथा में बहुत कुछ और अधिक है। चतुर्थ सर्ग में विक्रमादित्य द्वारा चारों दिशाओं की विजय (**दिग्विजय**) का जो एक सार्वभौम सम्राट् के लिए आवश्यक है नियमानुसार वर्णन है, यद्यपि उस समय वह अधिक से अधिक एक प्रदेश का राज्यपाल था। तथापि ये विजय सचमुच के युद्धों पर आधारित हैं जो चोलों तथा अन्य प्रतिवासियों से किए गए (हमारे पास चोलों के इतिवृत्त हैं जिनमें विक्रम का उल्लेख है) इनको बढ़ा-चढ़ाकर दूरवर्ती अभियान बना दिया गया है, जिनमें सदैव विजय प्राप्त होती है। इससे आगे राज्यलक्ष्मी का प्रश्न है। आठवें सर्ग में यही सूचना दी गई है कि कर्णाटक के राजा ने यह निर्णय कर लिया है कि उसकी पुत्री के विवाह का अब समय है। बिल्हण के अनुसार (9,151) यह कन्या, चन्द्रलेखा राजाओं की भाग्य-लक्ष्मी की प्रतीक है। शिव उसके पिता को आज्ञा देते हैं कि इसका विवाह अवश्य ही स्वयंवर की प्राचीन अभिजातीय विधि से होना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि भारत के सब राजे तथा राजकुमार उपस्थित होने के लिए निमन्त्रित किए जाएं, और कन्या को उनमें से एक को पति चुनना होगा। बिल्हण ने चन्द्रलेखा को परम सुन्दरी तथा विद्याधर कन्या भी कहा है। (viii,3) (इस को ऐतिहासिक तथ्य माना जा सकता है क्योंकि इस की पुष्टि बारहवीं शताब्दी के काश्मीर इतिहास-लेखक द्वारा हो जाती है। उस (कन्या) का एक चित्र काश्मीर को ले आया गया था)। परन्तु ये विद्याधर तो केवल, करहाट पर शासन करने वाला एक वंश था, जो चालुक्यों के सामन्त थे। अन्यत्र यह विद्याधर वंश शिलाहर की संज्ञा से प्रसिद्ध है। उनका राज्य महाराष्ट्र के नितान्त दक्षिण के एक कोने में था परन्तु व्यक्त रूप में लङ्का अथवा सिंहल द्वीप (Ceylon) के विद्याधर राजा रावण के साथ कम-से-कम जैन इतिहास-लेखन के अनुसार (उदाहरणतः विमल जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है) सम्बन्ध होने के कारण कई शिलाहर राजा अपने आप को सिंहल के राजा कहते थे। स्यात् **विक्रमांक देवचरित** के द्वितीय सर्ग में बिल्हण की (वस्तुतः शिव की) इस भविष्य-वाणी को कि विक्रमादित्य समुद्र के दूसरे छोर से लक्ष्मी लौटाकर लायेगा, पुष्ट करने के लिए यह पर्याप्त था। यहां पर विद्याधर, पमद्गुप्त के काव्य में नागों की भांति, लक्ष्मी के रूप इस कन्या में अलौकिक अंश की पूर्ति करते हैं। यह सत्य है कि चन्द्रलेखा विक्रमादित्य को वर चुन लेती है। देवी को अपने आप ही नायक के पास पहुंच जाना चाहिए। प्रतिस्पर्धी प्रार्थी विक्रमादित्य का विरोध करने का

साहस नहीं कर पाते और चल देते हैं (परम्परा के अनुसार स्वयम्वर का अन्त प्रायः युद्ध से होता था)।

बिल्हण ने अभी समाप्ति नहीं की है। कुछ वर्णनात्मक सर्गों के पश्चात् जो कि महाकाव्य में उचित, तथा चन्द्रलेखा के साथ विक्रमादित्य के संयोग के अवसर के अनुकूल थे (वसन्त, रात्रि, अन्त में राजधानी को प्रत्यागमन और ग्रीष्म) अभी, तीसरे भाई जयसिंह की बात करना आवश्यक है, जो संभवतः दूसरे भाई का अनुकरण करना चाहता था। बिल्हण के अनुसार जयसिंह ने विक्रमादित्य के विरुद्ध विद्राह किया परन्तु एक घोर युद्ध के पश्चत् परास्त हुआ और बन्दी बना लिया गया। जैसा कि प्रायः होता है विक्रमादित्य को दयालु तथा मैत्री का इच्छुक चित्रित किया गया है और जयसिंह को अभिमानी और कृतघ्न। परन्तु कुछ और तथ्य भी थे जिनकी ओर ध्यान न देना, बिल्हण अधिक अच्छा समझता था। पुराभिलेख यह बात स्पष्ट कर देते हैं कि सोमेश्वर के साथ उनके सम्मिलित युद्ध के पश्चत् जयसिंह को विक्रमादित्य ने युवराज बना दिया। लगभग दस वर्ष पश्चात् (1082 में) विक्रमादित्य ने उसको इस पद से हट दिया और उस के स्थान पर अपने पुत्र मल्लिकार्जुन को युवराज बना दिया। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि उस ने विद्रोह कर दिया।

विक्रमादित्य के पुत्रों में से एक, सोमेश्वर तृतीय ई० प० 1126 में उसकी उत्तराधिकारी सम्राट् बना। इसके कुछ काल पश्चात् उसने अपने पिता का जीवन-चरित, **विक्रमांकाम्युदय** (आख्यायिका) स्पष्टतया केवल आंशिक रूप में लिखा क्योंकि उसके पूर्व-चरित अभी तक एक जीवित प्रश्न थे, और यह संभव था कि वह अपनी स्थिति को दृढ़ बना सके। इस ग्रंथ की केवल एक हस्तलिखित अपूर्ण प्रति गुजरात की राजधानी के एक पुस्तकालय में बच रही है। (संभवतः किसी गुजराती इतिहास ने इसे वंशानुक्रम की खोज के निमित्त प्राप्त किया होगा) (पुस्तक का) यह खण्ड कर्णाटक के देश तथा जनता, इसकी राजधानी कल्याण, एवं विक्रमादित्य षष्ट तक के चालुक्यों के इतिहास का वर्णन करता है। उपरोक्त के जीवन पर (लिखा) प्रधान भाग अलभ्य है। उपलब्ध ग्रंथ से ज्ञात होता है कि सोमेश्वर तृतीय ने उन घटनाओं को और संक्षिप्त कर दिया है जिनका परिणाम उसके पिता के सम्राट् बन जाने में होता है, जबकि आहवमल्ल ने उसको सीधा युवराज के पद पर बिठा दिया था। तीनों पुत्रों के सत् और असत् चरित्रों के निश्चित किए जाने में ईश्वर की दैवी शक्ति पर और बल दिया गया है, और सांख्य की अध्यात्मविद्या की परिभाषा में समझाया गया है। वस्तुत : यह धर्माश्रित इतिहास-लेखन है। घटनाओं का क्रम दैवी संरक्षा अथवा अनुग्रह से निश्चित होता है, मनुष्य के पुरुषार्थ से नहीं।

व्यक्तिगत रूप में विक्रमादित्य की न्याय्यता के प्रश्न के अतिरिक्त समस्त

चालुक्त वंश की न्याय्यता की उसके इतिहास-लेखकों के समर्थन की आवश्यकता थी। बिल्हण के अनुसार (1, 44-3.3.) देवताओं के अधिपति इन्द्र ने ब्रह्मा से एक ऐसा वीर उत्पन्न करने की प्रार्थना की जो धर्म (पुण्य, कर्तव्य, ईश्वर-पूजा) के शत्रुओं को जिन्होंने पृथ्वी पर किए जा रहे कर्म-कण्ड को उलट दिया था, रोक सके, तथा जिसका वंश सूर्य की किरणों के समान हो ! तदनुसार ब्रह्मा ने सूर्योदय की धार्मिक क्रिया के लिए जल का एक चुलक लिया और ध्यान-मग्न होकर इस पर दृष्टिपात किया जिस पर इसमें से एक योद्धा निकला, जो कि देवताओं के शत्रुओं के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत था। उसका नाम हारीत था, और वह उस अभिजात कुल का आदि पुरुष था जिसको चालुक्य कहा जाता है। (अपवाद रूप में चुलुक से व्युत्पन्न) वे सूर्यवंशी राम की राजधानी अयोध्या में रहते थे और वहीं सार्वभौम सम्राट् बन गए। तब, आमोद-प्रमोद के रसज्ञ वे दक्षिण को प्रस्थान कर गए जहां पर राष्ट्रकूट-व्यवधान के पश्चात्, विक्रमादित्य (तैलप द्वितीय) के निकटतर पूर्वजों में से एक ने उनका साम्राज्य स्थापित किया। यह अद्‌भुत उत्पत्ति उनको आधे पुरोहित (स्वयं ब्रह्मा के एक पुत्र की ब्राह्मण सन्तति, अथवा हारीत की सन्तति, जिसको अन्यत्र एक ब्राह्मण गोत्र का पूर्वपुरुष माना जाता है) और आधे क्षत्रिय बना देती है, जिससे हम यह समझ सकते हैं कि वे मूलतः पुरोहित थे, परन्तु वाकाटकों की भांति और उनसे पहले दूसरों की भांति राजा बन गए थे। यह विचार कि वे मूलतः उत्तर में अयोध्या से शासन करते थे, संभवतः एक कल्पना मात्र है जिससे उनका सम्बन्ध प्राचीन साम्राज्य के केन्द्रों में से एक के साथ जोड़ा जा सकता है। इससे यह अगला प्रयोजन, सिद्ध हो सकता है कि किसी प्रकार चालुक्यों और सूर्यवंश में परस्पर भ्रान्ति उत्पन्न की जाए मानो कि वे, इक्ष्वाकुओं की प्रथम वंशावली के लुप्त हो जाने के पश्चात समस्त पृथ्वी के वैध दामाद थे। (संभवतः उनकी अनुश्रुति के अनुसार, मूलरूप में ई० पू० तीसरी शताब्दी में आन्ध्र के इक्ष्वाकुओं से उनका उद्‌गम हुआ) सोमेश्वर तृतीय ने इसमें किंचित परिवर्तन कर दिया ! वस्तुतः यह संभव प्रतीत होता है कि बिल्हण ने भ्रान्ति से चालुक्यों को चौलुक्य समझकर एक भूल की थी। चौलुक्यों की संज्ञा की व्युत्पत्ति नितान्त नियमपूर्वक चुलुक से है, और वे इस काल में ब्रह्मा के चुलुक से उत्पन्न हुए माने जाते थे। (कल्याण को जाने से पहले बिल्हण ने गुजरात में चौलुक्य सभा में आश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न किया था) सोमेश्वर कहता है कि सूर्यवंशी राजाओं के पश्चात् सत्याश्रय ने अयोध्या में एक नये वंश की स्थापना की और (इसको भी) चालुक्य कहा गया, क्योंकि उसने चालुक्य पर्वत पर देवताओं से वर प्राप्त किया था। आगे चलकर, वह, कर्णाटक राजाओं की एक पूर्णतम सूची प्रस्तुत करता है तथा राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष का कुछ वर्णन भी करता है। (राष्ट्रकूटों को उसने राक्षस कहा है) हम कर्णाटक के इतिहास-लेखन का इक्कीसवें अध्याय में पुनः वर्णन करेंगे।
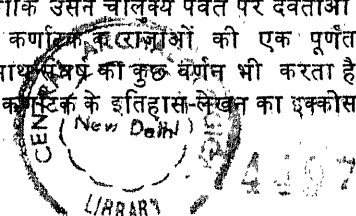
अध्याय-10

पाल-इतिहास-लेखन

पाल राजा रामपाल विक्रमादित्य षष्ठ का यथार्थप्राय समकालीन था। वह भी तीन भ्राताओं से एक था, परन्तु वह सबसे छोटा था और जिन घटनाओं ने सबसे महान् पाल सम्राटों में से उसको एक बताया था उनका वर्णन उसकी सभा के एक कवि सन्ध्याकरनन्दी ने किया है। (यद्यपि काव्य की समाप्ति रामपाल के पुत्र मदनलाल के राज्यकाल में ही हुई थी) रामचरित क्लिष्ट है क्योंकि सन्ध्याकरनन्दी ने दो कथाओं का वर्णन एक में ही देने की युक्ति अपनाई है। उसके लघु काव्य में (चार सर्ग मात्र) श्लेष द्वारा एक ओर तो सूर्यवंशी राम की कथा जिसमें रावण की पराजय और राम की अपहृत पत्नी की पुनः प्राप्ति का वर्णन है और दूसरे पक्ष में रामपाल का चरित दिया गया है, जिसमें उसके शत्रु भीम की पराजय तथा उसके साम्राज्य के एक भाग की जो उससे छिन गया था, अवाप्ति है। इस प्रकार हमारे सामने एक दूसरे रूप में एक समकालीन राजा का संसर्ग प्राचीन सूर्यवंश के साथ सम्पन्न करने की युक्ति है। कवि स्वयं एक राजपुरुष था (कायस्थ जाति का ब्राह्मण नहीं) और उसका पिता सन्धि विग्रहिक रह चुका था।

अपने काव्य के आरम्भ में वह पालवंश के उद्भव की ओर संकेत करता है। इस विषय में हम तारानाथ आदि बौद्ध इतिहास-लेखकों से तथा समकालीन पुराभिलेखों से यह जानते हैं कि वस्तुतः पालवंश का प्रवर्तक गोपाल आठवीं शताब्दी के मध्य में चुनाव द्वारा गौड़ के सिंहासन पर बैठा जब यह स्थान रिक्त था। परन्तु संभवतः यह सब पूर्ण रूप से सन्ध्याकरनन्दी की रुचि के अनुकूल नहीं था यद्यपि वह चालुक्यों के इतिहास-लेखकों की भांति किसी दैवी निर्देश अथवा ईश्वरीय-प्रसाद को बीच में नहीं लाता। क्योंकि पाल सम्राट् बौद्ध थे इसलिए उनके विषय में यह कहना कि वे परमात्मा के प्रसाद से राज्य कर रहे थे, कठिन रहा होगा। तथापि उनके लिए एक अतिमानुष पितृकुल की कल्पना की गयी। इस प्रकार के दो पितृकुल सचमुच ही प्रस्तुत कर दिये गये हैं। एक तो

जिसका उल्लेख सन्ध्याकरनन्दी के श्लिष्टार्थ द्वारा किया गया है, यह था, कि वे सूर्यदेवता की सन्तान थे। इस परम्परागत विश्वास का कोई विस्तृत वर्णन ज्ञात नहीं है, परन्तु सोडल (**उदयसुन्दरी**, पृ० 4) धर्मपाल को मान्धाता का वंशज कहता है। इसका आशय यह हुआ कि वह तथा संभवतः गोपाल सूर्यवंशी राजाओं का दूरवर्ती वंशज माने जाते थे (मान्धाता के विषय में बौद्ध तथा पौराणिक अनुश्रुतियां भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उसके सूर्यवंशी होने के विषय में उनका मत एक ही है।) दूसरी कहानी, जिसका उल्लेख सन्ध्याकरनन्दी के प्राथमिक अर्थ में पालों के विषय में किया गया है, और जिसका वर्णन बौद्ध-लेखकों ने विस्तार से किया है (बू-स्तां, तारानाथ) यह थी कि गोपाल का उत्तराधिकारी धर्मपाल राजा का वास्तविक पुत्र नहीं था, परन्तु वह उसकी महिषी से समुद्र से प्रकट हुए एक नागराजा के साथ संभोग करने से उत्पन्न हुआ था। इस नाग का नाम सागरपाल था 'समुद्रपाल'। क्योंकि नागों की उत्पत्ति समुद्र से हुई थी, सन्ध्याकर नन्दी यह कहता है कि धर्मपाल समुद्र के वंश अथवा जाति में उत्पन्न हुआ था। वस्तुतः सन्ध्याकरनन्दी गोपाल का उल्लेख नहीं करता, केवल धर्मपाल का ही (करता है), मानो कि उपरोक्त, जो कि अपने वंश में सबसे अधिक विख्यात था, वंश का वास्तविक प्रवर्तक था, जैसा कि सत्यमेव उसके अवैध जन्म से अभिप्रेत होगा। कवि जलधि के पार उसके नाविक अभियान का उल्लेख करता है, जो कि धर्मपाल जैसी उत्पत्ति वाले व्यक्ति के लिए अत्यन्त औचित्यपूर्ण है, और जिससे स्वयं समुद्र के देवता के संरक्षण का आशय प्रतीत होता है।

तब सन्ध्याकरनन्दी सीधा रामपाल के पिता विग्रहपाल तृतीय और कलचुरि राजा कर्ण के साथ उसके युद्धों पर जा पहुंचता है। उसका उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र महीपाल द्वितीय हुआ, जिनका वर्णन अपेक्षाकृत संदिग्ध शब्दों में किया गया है। कवि इस तथ्य पर बल देता है कि महीपाल ने अपने दोनों भ्राताओं को इस प्रकार के दुष्ट अपवादों पर विश्वास करके कि वे उसके विरुद्ध षड्यन्त्र की रचना कर रहे हैं, कारागार में डाल दिया। तब अकस्मात् ही राजा को अपने सामन्तों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। यह एक संयोग की बात ही प्रतीत होती है, यदि हम ऐसा अनुमान कर लें कि सम्राट-कुल की गृह-कलह ने ही विद्रोहियों को यह सुझाव दिया हो कि विद्रोह के लिए यह समुचित अवसर है। मूर्खता-पूर्वक युद्ध-प्रिय होने के कारण अपने मन्त्रियों के परामर्श के विरुद्ध, महीपाल ने विद्रोहियों के साथ युद्ध करने के लिए तुरन्त अभिमान आरम्भ कर दिया परन्तु पराजित हुआ और मारा गया। दुर्नय के इन कार्यों को छोड़कर कवि ने महीपाल का उल्लेख एक श्रेष्ठ राजा के रूप में ही किया है। उसकी मृत्यु के पश्चात् विद्रोहियों ने साम्राज्य के एक भाग पर शासन किया और पालवंश को गंगा के दक्षिण वाले भाग में ही नियंत्रित कर दिया। सन्ध्याकरनन्दी तो हमें

दूसरे भाई के विषय में कोई सूचना नहीं देता, परन्तु पुराभिलेखों से उसके सम्बन्ध में इतना ज्ञात होता है कि उसने कुछ समय के लिए शासन किया। कवि सीधा रामपाल के सफल युद्ध के वर्णन की ओर अग्रसर हो जाता है, जो उसने भीम के नेतृत्व में लड़ रहे विद्रोहियों के साथ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्रोह कई वर्ष चलता रहा। हम यह नहीं जानते कि क्या दूसरे भाई की भी वही गति हुई जो पहले की हुई थी। रामपाल की सफलता का कारण उसकी कुशल नीति थी, यह हमें बताया गया है। उसने यथायोग्य उपहारों तथा भूमि-दान के द्वारा उन सामन्तों को, जो सैनिक-शक्ति की दृष्टि से सर्वाधिक बल-सम्पन्न थे (जिनकी सूची कवि ने एक प्रकार के मान-पत्र में दी है) अपनी ओर कर लिया। तत्पश्चात् एक सशक्त स्थलसेना तथा नौसेना से युक्त होकर, रामपाल ने अपने सर्वोत्तम और परम भक्त सेनानी शिवराज को पहले ही गंगा के पार भेज दिया। उससे आरंभिक सफलताओं की सूचना पाकर रामपाल ने सेना के प्रधान भाग के साथ स्वयं प्रयाण किया, और भीम के साथ एक घोर युद्ध में विजयी हुआ। भीम को बन्दी बना लिया गया। इस (विजय) से युद्ध का अन्त नहीं हुआ क्योंकि हरि ने जो कि भीम का भतीजा प्रतीत होता है, एक अन्य सेना लेकर युद्ध को जारी रखा। भीम ने साहस नहीं छोड़ा, अपितु अपने बन्दीगृह से ही अपने निग्रह करने वालों के विरुद्ध युद्ध का मार्ग-दर्शन करने का प्रयत्न किया। रामपाल के पुत्रों में से एक ने हरि के विरुद्ध अभियान किया। परन्तु उसने नीति का उतना ही प्रयोग किया जितना युद्ध का। उसने उपहार देकर सहायक इकट्ठे किये। और साथ ही हरि और भीम की सेनाओं में फूट डाली और अन्ततः हरि को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया। बन्दी बना लिये जाने के पश्चात् उसके विद्रोही आचरण के कारण भीम का वध कर दिया गया। तत्पश्चात् विजय रामपाल ने हरि को उसके मानयोग्य आत्मसमर्पण के उपलक्ष्य में सामन्त के रूप में एक उच्च-पद पर बिठा दिया।

इस प्रकार साम्राज्य की पुनः प्राप्ति के पश्चात् रामपाल को, प्रतिवासी देशों के विरुद्ध अभियानों की एक संतति में व्यस्त वर्णित किया गया है। यह वर्णन लोक प्रचलित दिग्विजय के वर्णन के समान है। एक दीर्घ राज्यकाल के अन्त के निकट जो कि भवन-निर्माण, सिंचाई के साधन, साम्राज्य की शासन व्यवस्था के पुनः संविधान तथा विद्या की सहायता को समर्पित कर दिया गया था, रामपाल ने शासन कार्य अपने पुत्र राज्यपाल को संभाल दिया। अन्त में अपने आपको कृतकृत्य समझकर, उसने गंगा की पवित्र जलराशि में अपने जीवन का अन्त कर दिया। सन्ध्याकरनन्दी ने कुमारपाल के सफल राज्यकाल का तथा कुमारपाल के पुत्र गोपाल के राज्यकाल का जिसका आचरण दूषित था, और जो शत्रुओं को नष्ट करने के प्रयत्न में मृत्यु को प्राप्त हुआ, संक्षिप्त वृत्तान्त देकर अपने

वर्णन को जारी रखा। अन्त में वह राज्यपाल के दूसरे पुत्र राजा मदनलाल की जो उस समय राज्य कर रहा था, उसके सफल विजयी तथा उदार शासन के लिए प्रशंसा करता है, जिसने अपने सद्विवेक, राजनीतिक कौशल और अनुरंजन की बुद्धिमत्ता दिखाई। लक्ष्मी इस श्रेष्ठ राजा की भक्त है जो लेखकों का संरक्षण भी करता है। इस कृति में सन्ध्याकरनन्दी का उद्देश्य प्राथमिक रूप में राजाओं की तुलना राजनीति में प्रदर्शित उनके सद् और असद् विवेक के आधार पर करने का है। साथ ही वह प्रबल संकेत भी कर देता है कि उन्हें चाहिए कि वे मंत्रियों, राजपुरुषों और उस जैसे लेखकों, विद्वानों और कवियों, जो प्रायः उसी अभिजात शासक वर्ग के होते थे, जिसमें से शासन कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे, के पथ-प्रदर्शन को मान्यता प्रदान करें।

अध्याय-11

कश्मीर में इतिहास-लेखन—कल्हण

सन्ध्याकरनन्दी की कृति सम्पूर्ण हो जाने से कुछ वर्ष पहले कल्हण ने अपनी **राजतरंगिणी** समाप्त कर लीं थी जो भारत का सर्वाधिक प्रसिद्ध इतिहास है। कल्हण का ध्येय आदिकाल की दन्तकथाओं से आरंभ करके अपने समय तक, कश्मीर का एक सविस्तार इतिहास लिखने का था। उसने **इतिहास** की प्राचीन परम्परा का पालन किया और उत्तरकालीन महाकाव्य के कलापरक अनुरोधों की ओर बिल्हण आदि लेखकों की अपेक्षा बहुत ही कम ध्यान दिया। इसके साथ ही उसने अपने इतिहास की पुष्टि, समकालीन लेखों जिनमें राजकीय शासन, दान-पत्र, पुराभिलेख, मुद्राएं शामिल थीं, तथा प्राचीन स्मारक भवनों जैसे भूतकाल की सूचना के स्रोतों के पूर्ण अन्वेषण द्वारा की। उसने इतिहासकार के लिए पक्षपात से रहित होने के आदर्श का निर्देश किया, और कश्मीर के इतिहास पर लिखे गये पूर्वकालीन असंख्य ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन किया जिनमें से **नीलमत पुराण** जो कि एक स्थानीय **पुराण** है अर्थात् **स्थलपुराण** है जो कि कश्मीर की उत्पत्ति तथा इतिहास के विषय पर लिखा गया है—उसको छोड़कर शेष सब लुप्त हो गये हैं। (इस प्रकार वह हमें एक मध्यकालीन भारतीय राज्य में इतिहास लिखने की परम्परा की एक झांकी प्रदान करता है जो कि इसलिए बहुत ही मूल्यवान है क्योंकि प्राचीन साहित्य का अधिकतम भाग नष्ट हो गया है) उदाहरण के लिए, उसने सुव्रत[1] की लोक-प्रिय रूप-रेखा की कड़ी आलोचना की है, यद्यपि यह कश्मीर के प्रारंभिक राजाओं के वृहत्काय इतिहासों का संक्षेप बनाकर लिखी गयी थी। (कल्हण का दोष-निरूपण) केवल साहित्यक शैली के आधार पर था। इसके विपरीत क्षेमेन्द्र ने अपनी **नृपावलि** में जो कि एक संक्षेप है, नितान्त असावधानी से कार्य किया है।

तथापि कल्हण भी काव्य की ही रचना कर रहा है, और उसका लक्ष्य

---

1. मूल ग्रंथ में छपने की अशुद्धि से Vuvrat छप गया है।

साहित्यिक सौन्दर्य तथा ऐतिहासिक सत्य का समन्वय करना है। यद्यपि वह उत्तरकालीन महाकाव्यों की आदर्श प्रथा के विपरीत अपने आपको केवल एक सरल छन्द (के प्रयोग) तक सीमित रखता है और अलंकृत भाषा की पेचीदगी तथा काव्यात्मक वर्णन का विस्तार करने से दूर रहता है, तथापि वह काव्य के मूल सिद्धान्त अर्थात् पाठक के हृदय में रस-निष्पत्ति के ध्येय को सामने रखता है। महत्त्वाकांक्षी पुरुषों के प्रायः निष्फल पुरुषार्थों पर विमर्श करने के फलस्वरूप शान्त रस के सृजन को इतिहास की मुख्या शिक्षा के रूप में देखते हुए, वह शान्त रस को ही अपने पाठकों में प्राथमिक प्रभाव के रूप में उत्पन्न कर देना ही पसन्द करता है। साहित्यिक सौन्दर्य की सचाई को ऐक्यप्रदान करने वाला यह सिद्धान्त उसकी सम्पूर्ण रचना में व्यापक है। उसके द्वारा एकत्रित की गयी घटनाओं की अपरिमेय विविधता और उसके साथ वे भिन्न-भिन्न रस जो ये प्रसंगवश उत्पन्न करेंगी, यथा—करुण, रौद्र, कभी-कभी शृंगार अथवा हास्य, वीभत्स तथा वीर, भयानक, तथा अद्भुत (जो विरल है), ये सब अन्त में संसार की रंगीनियों के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न करते हैं, और मानसिक शान्ति की ओर ले जाते हैं। एक ऐतिहसिक ग्रंथ में, इस साहित्यिक सौन्दर्य के सिद्धान्त के लिए कल्हण महाभारत का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है। वहां पर, युधिष्ठिर, वस्तुतः ही, मनुष्यों के इतने प्राण-पण से विजय प्राप्त करता है कि वह कठिनाई से अपने ही कर्मों के साथ समझौता कर पाता है, और अन्त में अपने साम्राज्य और संसार का त्याग कर देता है, और हिमालय में विश्राम लेता है। इस साहित्य-सौन्दर्य के ध्येय के अनुसार कल्हण ने अपने काव्य की रचना इस प्रकार की है, जिससे कि उन उपाख्यानों को प्राधान्य प्रदान किया जा सके जो विशेषतः इतिहास की शिक्षा का है, विवरण तथा ऐसा विवरण तथा प्रवर्तन करते हों जैसा वह समझता है। कल्हण एक ब्राह्मण था, और यह तर्क किया जा सकता है कि बिल्हण की भांति भार्गवों की सारस्वत शाखा का था क्योंकि कश्मीर के सब ब्राह्मण अपने आपको इसी पितृकुल का मानते हैं। सन्ध्याकरनन्दी की भांति वह एक अमात्य का पुत्र था, और इसी कारण, राजनीतिक कार्यों तथा राजनीतिज्ञों के चरित्र से सुपरिचित था, परन्तु वह ब्राह्मणेतर कायस्थ जाति के राजकर्मचारियों का कटु आलोचक था, (क्योंकि उसका विश्वास था कि) वे अपने निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों का सर्वनाश कर देते हैं। (उसके पूर्ववर्ती क्षेमेन्द्र ने कायस्थ राजकर्मचारी श्रेणी का निन्दागर्भित कटु वर्णन हमारे लिए उपस्थित किया है)।

कल्हण की **राजतरंगिणी** कश्मीर का सर्वाङ्गीण इतिहास है, केवल एक ही राजवंश का इतिहास नहीं। वस्तुतः वह स्पष्ट कर देता है कि उसने कुछ पूर्ववर्ती राजवंशों के इतिहास-ग्रंथों का प्रयोग स्रोतों के रूप में किया है। वह कश्मीर की सृष्टि से आरंभ करता है, और अपने वृत्तान्त की कड़ी वैवस्वत मनु के पौराणिक

इसकी तिथि के साथ जोड़ देता है। क्योंकि पुराणों की कालगणना जैसा कि हम देख चुके हैं, पहले से ही अशुद्ध थी, और कल्हण अपनी कालगणना का समन्वय इसके साथ करता है, इसलिए, ऐसा करने के लिए उसे कश्मीर की वंशावलियों को बढ़ाना पड़ा है। यह एक तथ्य है, कि पूर्वकालीन अवधियों में कुछ राजाओं तथा राजसमूहों को जिनके विषय में पुरातन स्रोत अनुमानतः अधूरे और शान्ति-पूर्ण थे, द्विगुणित कर दिया गया है। यह बहुत संभव है कि एक ही वंश के, अथवा उसी वंश के कुछ अंशों के वृत्तान्तों की पहचान नहीं की जा सकी, और उनका इकट्ठा वर्णन करने के स्थान पर उनको एक अनुक्रम में रख दिया गया है यदि (इस विषय में उसको सन्देह होता, तो अनुमानतः कल्हण पुराणों में निश्चित किये गए इतिहास के ढांचे को पूर्ण करने के लिए अपने (ग्रन्थ में) राजाओं की संख्या बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित होता। प्रतीत होता है कि हूण शासन के विषय में हमारे पास एक (अथवा निरन्तर अनुक्रम में दो) के स्थान पर कम से कम चार विभाग हैं। क्योंकि भारतीय राजाओं के प्रायः कई नाम और उपाधियां होती हैं इसलिए यदि एक इतिहास-लेखक उनकी पूरी पहचान कर सकने में असफल हो तो इस पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। हां, यह आवश्यक है कि उसने यथा-संभव प्रयत्न किया हो कि जितने राजाओं को प्रकाश में ला सकता हो, लाकर एक पूर्ण इतिहास की रचना की है। कल्हण इस मतभेद का उल्लेख करता है कि कलियुग का आरंभ भारत युद्ध के साथ हुआ अथवा इससे 653 वर्ष पहले। उसने उत्तरोक्त मत को अपनाया है।

मातृगुप्त को कश्मीर के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करने वाले विक्रमादित्य ('द्वितीय' नीचे देखिये) के समय से आरंभ करके आगे तक कल्हण का इतिहास उचित मात्रा में यथार्थ प्रतीत होता है। बहुत प्राचीन काल में, पहले हमारे सामने कुछ अप्रसिद्ध पुरातन-कथाओं में उल्लिखित राजाओं के नाम आते हैं जो अंशतः **नीलमत पुराण** से लिये गए हैं, और युधिष्ठिर के समय से आगे तक राज्य करते रहे हैं। तत्पश्चात् मौर्य समाट् अशोक तथा उसका पुत्र और फिर कुषाणों में से कुछ (राजाओं के नाम)। इनके तथा मातृगुप्त के बीच बहुत से दूसरे राजाओं के नाम प्रक्षिप्त कर दिए गए हैं और उनको हूणों में मिला दिया गया है, यद्यपि ये राजा हूणों के भारत में आने से दीर्घ काल पूर्व दिखाये गये हैं। निश्चित सत्य यह है कि एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में काश्मीर के इतिहास का आरंभ मातृगुप्त के साथ होता है। उसके राज्यकाल से पूर्व यह कुषाण साम्राज्य का एक भाग था तथा इससे भी पहले यह मगध के मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित था। कश्मीर के इतिहासकार स्थानीय देशभक्ति से प्रेरित होकर इन तथ्यों को धुंधला बनाने तथा अपने राजाओं के वंशों का उद्गम सीधा भारत युद्ध के वीर-काल से खोजने के लिए बाध्य हो गये हैं। कल्हण, विक्रमादित्य (प्रथम) (पीछे से उसके पास एक और

उपाख्यानों के साथ, जिसके समय में कश्मीर की उपत्यका जो पूर्ववर्ती काल में एक सरोवर थी, जल से रिक्त की गयी मानी जाती है, तथा भारत युद्ध और भी है) की तिथि ई० प० 78 देता है। इस सम्वत्सर को शक कहते हैं—यह भूल इतनी गंभीर नहीं जितनी कि प्राय: (ई. पू. 58) में स्वीकार किये जाने वाले विक्रम सम्वत् की। यह धारणा की जा सकती है कि यह सम्वत्सर शकों की पराजय को अंकित करता था। इसके तथा विक्रमादित्य (चन्द्र द्वितीय) की तिथि के बीच 300 वर्ष की खाई को भरने के लिए, कल्हण को अपने स्रोतों में एक राजा की असाधारण दन्त-कथा मिली, जिसका राज्यकाल 300 वर्ष था।

मातृगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारी के पश्चात् हूण आक्रमणों का आकुलता-पूर्ण समय आया जब कश्मीर पर हूण शासन स्थापित हो गया और अनेक भारतीय राजा उनके विरुद्ध युद्ध करने लगे। सातवीं शताब्दी के आरंभ में दुर्लभ वर्धन के साथ, जो कार्कोट वंश का प्रथम राजा था, और जिसका नामकरण उस नाग के नाम पर हुआ है जो कि इसके प्रथम राजा का पिता माना जाता है, (पाल राजाओं के उद्भव से तुलना कीजिये। कश्मीर के असंख्य नाग इसके सरोवरों और चश्मों में रहते थे) हम स्थिर ऐतिहासिक धरातल पर आ पहुंचे हैं। यह कार्कोटों का अतिविस्तीर्ण तथा घटनापूर्ण, तथा उनके उत्तरवर्ती राजाओं का (जो सब उसी वंश में सीधे क्रम से अथवा व्यवधान से उत्पन्न हुए) इतिहास ही है जो कल्हण की कृति को अद्वितीय रोचकता प्रदान करता है, तथा इस काव्य के अधिकांश की पूर्ति करता है। निसर्गत: सर्वाधिक घटनाएं कश्मीर में ही घटती हैं, परन्तु कभी-कभी कश्मीरी अपने राज्य से बाहर भी अभियान करते हैं, और तब भारत के लिये, अधिक व्यापक अर्थपूर्ण विषयों की ओर भी ध्यान दिया जाता है। उदाहरण के लिए गन्धार के शाहियों के दीर्घकालीन संघर्ष जो तुर्कों की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति के साथ हुआ, और जिसको 'तुर्क-संग्राम-संतति' की संज्ञा दी जाती है, एक ऐसे शत्रु के विरुद्ध जो अपूर्व रुधिर-प्रिय, धर्मान्ध तथा विध्वंसकारी था और जिसका लक्ष्य एक देश को जीतना ही नहीं था अपितु एक सभ्यता का अस्तित्व ही मिटा देने का था। (कल्हण ने) इस संघर्ष की दीर्घ यातना का थोड़ा सा वर्णन किया है। इतिहास के वृत्तान्त को अद्यपर्यन्त बनाने के लिए कश्मीर के उत्तरवर्ती इतिहास-लेखकों ने कल्हण के ग्रन्थ के परिशिष्टों के रूप में कुछ रचनाएं कीं। इनमें सबसे अधिक महत्त्व की रचना, पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में जोनराज की है। उसका अनुकरण उसके शिष्य श्रीवर ने किया, जिसने जैनोल्लाभदीन के राज्यकाल से (ई० पू० 1420) आरंभ करके वर्णन को थोड़ा आगे तक पहुंचाया। फिर सोलहवीं शताब्दी के अन्त में प्राज्यभट तथा शुक ने 1586 में अकबर की विजय पर्यन्त (इस वर्णन को) जारी रखा।

अध्याय-12

सिन्धु और गुर्जर में इतिहास लेखन

सिन्धु के पूर्व-मध्यकालीन इतिहास का जो कुछ बचा रह गया है वह **चाच नाम** में है जो आठवीं शताब्दी में इस देश पर अरबों की विजय के पश्चात् लिखा गया और जिसमें छठी तथा सातवीं शताब्दी के बौद्ध (श्रमिक) तथा ब्राह्मण राजाओं से सम्बद्ध कुछ पुरातन स्रोतों को सम्मिलित करके तथा अरब आक्रमण के वृत्तान्त को उसके साथ इकट्ठा करके लिखा गया।

गुर्जर देश (गुजरात, प्राचीन आनर्त या सौराष्ट्र) अपने मध्यकालीन इतिहास के अधिकांश को जैन उपाश्रयों के पुस्तक-संग्रहालयों, विशेषतः प्राचीन राजधानी अणहिलपाटक (या अणहिलपुर वर्तमान में प्रायः पाटन के नाम से प्रसिद्ध) में संरक्षित रखने में भाग्यशाली रहा है। जैन इतिहासकार तथा विद्वान् हेमचन्द्र (बारहवीं शताब्दी) के जैन धर्म के पुरातन काल के इतिहास—**परिशिष्टपर्वन** के सम्बन्ध में, ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। उसने एक ऐतिहासिक काव्य भी दो भागों में लिखा, एक संस्कृत में तथा एक प्राकृत में। (दोनों भाषाओं के अपने ही व्याकरण के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने के निमित्त), जिसे **द्वयाश्रय** काव्य कहा जाता है। संस्कृत के लिखे बीस सर्ग, गुर्जर के चौलुक्य वंश का, इसके प्रवर्तक मूलराज (जिसके शासन का आरम्भ, ई० पू० 942 में हुआ) से लेकर बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सिद्धराज जिसके संरक्षण में हेमचन्द्र ने अपना जीवन आरंभ किया तथा उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल तक का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। यह अन्तिम राजा (कुमारपाल) प्राकृत में लिखे हुए आठ सर्गों की विषय-वस्तु बना है। दोनों भागों में कल्हण द्वारा प्रस्तुत किये गये विस्तृत इतिहास के स्थान पर महाकाव्य में उचित माने गये दीर्घ वर्णनों ने ले लिया है। राजवंश का गौरव बढ़ाने के लिए अतिमानुषिक उपाख्यान बीच में लाए गए हैं। उदाहरण के लिए, सिद्धराज की एक नाग से भेंट होती है और वह इसको पाताल में ले जाता है। जैन लेखकों के प्रिय विषय, अर्थात् 'पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के परिणामों' का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार सिद्धराज पूर्व-जन्म में सूर्यवंशी राम था।

व्याकरण के सब नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने के निमित्त कहीं-कहीं वर्णन में खींच-तान की गयी है और कहीं पर तो कल्पना भी। हेमचन्द्र के दृष्टिकोण से कुमारपाल के जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात उसका जैन धर्म का अध्ययन था। वस्तुतः राजा ने जैन उपदेश स्वीकार किये और अपने राष्ट्र को एक आदर्श जैन राज्य में परिवर्तित करने की चेष्टा की। परन्तु इस विषय में हेमचन्द्र की अपेक्षा दूसरे लेखकों से हम अधिक जानकारी प्राप्त करते हैं, (क्योंकि हेमचन्द्र) वृत्तान्तों की अपेक्षा सिद्धान्तों पर प्रवचन देने में अपने आपको सीमित कर लेता है।

बारहवीं शताब्दी के अन्त के आसपास, सोमप्रभ अपने **जिनधर्म प्रतिबोध** में, जिसको **कुमारपाल प्रतिबोध** भी कहा जाता है, राजा के क्रमशः जैन धर्म ग्रहण करने के विषय में हेमचन्द्र के साथ एक संभाषण का, किंचित्मात्र पूर्णतर परन्तु विस्तृत की अपेक्षा लाक्षणिक वर्णन प्रस्तुत करता है। (यह मिश्रित गद्य-पद्य में है और इस कारण इसको **चम्पू** की श्रेणी में रखा जा सकता है, अथवा अधिक अनिश्चित प्रकार से **प्रबन्ध** के रूप में)

राजा भीम द्वितीय चौलुक्य (1178-1241) एकक्लीव था। ठीक जिस समय तुर्क, आक्रमणों की एक श्रृंखला बांधे हुए थे, तथा साथ ही सामन्त विद्रोह पर तुले थे, चौलुक्यों की एक अन्य शाखा के कुल-जनों ने जिनको व्याघ्रपल्लीय कहा जाता था, राजस्थानियों का पद संभाला (और परम भक्तिमत्ता से राजवंश विस्थापन करने से निवृत्त रहे) परन्तु देश का सशक्त शासन मंत्रियों के हाथ में था, जिनमें से विशिष्ट, व्यापारी वर्ग का एक जैन वस्तुपाल संभवतः ई० पू० 1220 में मुख्य-मंत्री बना। वस्तुपाल युद्ध में कुशल तथा अर्थशास्त्र में निष्णात एवं एक कुशल नीतिज्ञ सिद्ध हुआ।

ब्राह्मण सोमेश्वर ने जो उस समय चौलुक्यों का कुलक्रमागत मुख्य पुरोहित था, विविध प्रकार के **काव्य** लिखे जिनमें से दो ऐतिहासिक महत्त्व के महाकाव्य थे। उसकी **कीर्तिकौमुदी** में वस्तुपाल के जीवन-चरित का वर्णन है, जिसके साथ चौलुक्यों के इतिहास का बहुत ही उपयोगी संक्षेप आमुख के रूप में दे दिया गया है। यह सबसे अधिक विस्तीर्ण भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में से है तथा रोचक विवरणों से परिपूर्ण। है सोमेश्वर नायक का परम प्रशंसक है परन्तु यह काव्य उन अत्यन्त दुर्लभ वृत्तान्तों में से है जिनमें नायक के कृत्यों के फलस्वरूप यह श्लाघा पूर्णतया न्याय्य होती है तथा कवि को काल्पनिक अलंकृतियों की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुपाल का अवकाश का समय तथा साहित्यिक प्रयास ध्यान देने योग्य है। आरंभ के चौलुक्य राजाओं के सम्बन्ध में परम्परागत अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों को छोड़कर सारा वर्णन तथ्यों पर आश्रित प्रतीत होता है। **सुरथोत्सव** में द्वितीय मनु स्वारोचिष के मन्वन्तर के सम्बन्ध में एक दन्तकथा

का वर्णन किया गया है जो **मार्कण्डेय पुराण** से ली गयी है, परन्तु इसके नायक सुरथ तथा राजा भीम के बीच समानताओं के कारण, इसका उद्देश्य सम्भवतः समकालीन घटनाओं पर एक रूपक लिखना था। यह (काव्य) सोमेश्वर के अपने पूर्वजों के इतिहास के साथ समाप्त हो जाता है जो अपने आश्रयदाता चौलुक्य राजाओं के सम्बन्ध में वसिष्ठ वंश के समान थे। सोमेश्वर पर्याप्त गुणसम्पन्न कवि है और साथ ही एक इतिहास-लेखक भी। अतः उसके महाकाव्यों तथा अन्य रचनाओं का गुण-विवेचन विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से किया जाता है।

एक अन्य समकालीन कवि अरिसिंह था जो एक जैन उपासक तथा क्षेत्रपति था, परन्तु वह साहित्यशास्त्र का आचार्य तथा अन्य कलाओं का मर्मज्ञ भी था। उसने भी वस्तुपाल पर एक काव्य **सुकृतसंकीर्तन** लिखा, जिसका आरम्भ गुर्जरों के पुरातन इतिहास पर लिखे गये दो सर्गों से होता है। यह क्रमशः चापोत्कट वंश जिसका राज्य आठवीं शताब्दी के मध्य से दशम शताब्दी के मध्य पर्यन्त रहा तथा चौलुक्यों के विषय पर लिखा गया है। अरिसिंह सोमेश्वर की तुलना में बहुत अधिक आलंकारिक है (जिसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह एक उत्कृष्ट कवि है) और कम तथ्यपरक। वह वस्तुपाल के जीवन के राजनीतिक पक्ष की अपेक्षा धार्मिक पक्ष पर जिनमें तीर्थ यात्राएं तथा देवालयों का निर्माण एवं जनता के कल्याण के लिए दूसरे लौकिक भवन भी सम्मिलित हैं, अधिक ध्यान केन्द्रित करता है।

बालचन्द्र का **वसन्त विलास** वस्तुपाल पर तीसरा महाकाव्य है जो कथानक को उसके जीवन के अन्त तक ले जाता है, क्योंकि यह उसके थोड़े ही काल पश्चात् लिखा गया था। लेखक, जो एक जैन मुनि है, कार्य रूप में, नायक के जीवन की घटनाओं को जिनका वर्णन उसके पूर्ववर्ती लेखकों के महाकाव्यों में हो चुका है, एकत्रित कर देता है तथा अन्त में वस्तुपाल के स्वर्गारोहण का अपना कवितामय वर्णन सम्मिलित कर देता है। (अपने काव्य में) वह स्वप्न में गुर्जर राजलक्ष्मी को राजस्थानीय के सन्मुख प्रकट करता है जो उसे वस्तुपाल की नियुक्ति करने का उपदेश देती है। एवं मूर्तिमान धर्म भी वस्तुपाल के सामने प्रकट होकर, इस अशान्ति के समय में, अपने कष्टों से मुक्ति दिलवाने के लिए उसे प्रेरित करता है। **कीर्तिकौमुदी** में सोमेश्वर ने राजलक्ष्मी को भावी राजस्थानीय के सामने उसको यह कहलवाने के लिए प्रकट किया है कि वह उसकी (लक्ष्मी की) रक्षा करें, तथा वह (सोमेश्वर) लक्ष्मी से उसके (वस्तुपाल के) कन्धों पर पुष्पमाला डलवा देता है, जिससे प्रकट होता है कि उसने (लक्ष्मी ने) वस्तुपाल को पति रूप में चुन लिया है।

हम कतिपय जैन ऐतिहासिक ग्रन्थों का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं, जो आंशिक रूप में भारत के नवम शताब्दी से पूर्ववर्ती सामान्य इतिहास का वर्णन करते हैं, परन्तु अपने उत्तरभाग में गुर्जर देश पर और कुछ अंश में मालव (अवन्ति) और

राजस्थान पर अपना ध्यान केन्द्रित कर देते हैं जहां पर उनमें से अधिकांश की रचना हुई। प्रायः इनको **प्रबन्ध** कहा जाता है (जिसका मूलतः अर्थ केवल रचना था, परन्तु यहां पर ने 'ऐतिहासिक वर्णन' का अर्थ प्राप्त कर चुके हैं।) सबसे पुरातन प्रबन्ध जो इस समय उपलब्ध है जिनभद्र की **प्रबन्धावली** प्रतीत होती है। जिनभद्र वस्तुपाल का समकालीन और उसके विद्वत्मण्डल का सदस्य था। इसमें सातवाहनों के सम्बन्ध में पुरातन काल की, तथा राजस्थान के चाहमानों, चालुक्यों तथा परमारों के विषय में निकट काल की कहानियां विद्यमान हैं। प्रभाचन्द्र का **प्रभावकचरित** (ई० पू० 1276 में सम्पूर्ण) जिसकी विवेचना ऊपर की जा चुकी है, हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्वन् के परिशिष्ट के रूप में अभिप्रेत था। इसमें **परिशिष्टपर्वन्** के उत्तरवर्ती काल का वर्णन किया गया था और यह स्वयं हेमचन्द्र के जीवन के विषय में एक अध्याय के साथ समाप्त होता है।

मेरुतुंग की **प्रबन्ध चिन्तामणि** (ई० पू० 1306 में परिसमाप्त) के आरम्भ में विक्रमादित्य और सातवाहन की कहानियां हैं। (यह क्रम विक्रमादित्य के समय के सम्बन्ध में अशुद्ध वृत्तान्त-परम्परा से बना है) एक कहानी भोज प्रथम परमार वंशी (नवम शताब्दी) के विषय में है। (यह कथा **स्कन्द पुराण** में भी मिलती है) तत्पश्चात् चापोत्कटों से आरम्भ करके, गुर्जर इतिहास का विस्तृत वर्णन देता है। मेरुतुंग मान् परमार सम्राटों—मुञ्ज और भोज (सिन्धुराज के पूर्ववर्ती तथा उत्तराधिकारी)—के विषय में कहानियां बीच में डाल देता है और एक प्रकीर्ण अध्याय के साथ, ग्रन्थ को समाप्त कर देता है। इस अध्याय में प्राचीन राजाओं, नन्द, विक्रमादित्य और सातवाहन तथा मध्यकालीन राजाओं, वलभी का शीलादित्य (गुर्जर में चापोत्कटों के पूर्ववर्ती मैत्रक वंश के, वास्तव में सात शीलादित्य थे) इसके साथ ही वहां पर जैन सम्मेलन का जिसमें जैन सिद्धान्त को स्मृति का रूप दिया गया तथा अरबों द्वारा वलभी के भंग का (आठवीं शताब्दी-शीलादित्य सप्तम) तथा लक्ष्मण (सेन, बंगाल) परमर्दिन (चन्द्रात्रेय-जेजाकमुक्ति), पृथ्वीराज (चाहमान, राजस्थान) तथा जयचन्द्र (गाहड़वाल, कान्यकुब्ज का अन्तिम वंश) का वर्णन है। अन्तिम चारों में सबने बारहवीं शताब्दी में राज्य किया। मेरुतुंग, तुर्कों के साथ युद्ध में अंतिम दो की मृत्यु का वृत्तांत देता है। दुर्भाग्यवश मेरुतुंग की सब कथाएं हास्यपरक कहानियों की विधा की हैं और वे केवल परोक्ष और छिट-पुट रूप में ऐतिहासिक सूचना उपस्थित करती हैं। कुछ पीछे की रचनाएं सर्वानन्द का जीवन-चरितमय **चम्पू जगडुचरित** तथा राजशेखर द्वितीय का **प्रबन्धकोश** है। जगडुचरित एक दानशील, परोपकारी तथा सामान्य नागरिक, जैन उपासक के विषय में है और प्रबन्धकोश में फुटकर कहानियां हैं।

चौदहवीं शताब्दी के मध्य में जयसिंह द्वितीय ने एक महाकाव्य **कुमारपाल भूपालचरित**, कुमारपाल तथा उसके आचार्य हेमचन्द्र के विषय में लिखा, जिसमें

कुमारपाल के जीवन की अधिकतम ज्ञात कथाएं इकट्ठी की गयी हैं। इन कथाओं को दिग्विजय यात्रा तथा अन्य घटनाओं द्वारा, अलंकृत किया गया है जो हमें पूर्वकालीन उपलब्ध रचनाओं में नहीं मिलतीं, जैसे कि कुमारपाल के भतीजे द्वारा उसका वध। एक जीवन-चरित की दृष्टि से यह पुस्तक हेमचन्द्र के समकालीन वर्णन अथवा सोमप्रभ के ग्रन्थ की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी है। इसी विषय पर जिनमण्डन ने पन्द्रहवीं शताब्दी में **कुमारपाल प्रतिबन्ध** लिखा जिसमें उसने ऐसे स्रोतों से सूचना संगृहीत की हैं जिनमें अधिकतम हमें ज्ञात हैं (परन्तु) कुछ अज्ञात भी हैं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपरोक्त लेखकों में से अधिकतम गुर्जर के चौलुक्य वंश का उद्‌भव अंतिम चापोत्कट राजा के भतीजे से मानते हैं जिसका पिता एक अप्रसिद्ध व्यक्ति था। केवल अभयतिलक (आरम्भिक चौदहवीं शताब्दी) और मेरुतुंग ने उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के चुलुक के जल से बताई है। अभयतिलक का वर्णन उसके भाष्य में मिलता है जो उसने हेमचंद्र के **द्वयाश्रय काव्य** के केवल संस्कृत भाग पर लिखा है। इस भाष्य में वह प्रसंग-वश बहुत-सी ऐसी सूचना प्रस्तुत करता है जो (मूल) महाकाव्य में नहीं दी गयीं। परंतु इस कहानी का उल्लेख कुमारपाल के राज्यकाल के पुराभिलेखों में किया गया है और यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय यह वर्णन राजवंश द्वारा अनुमोदित था तथा प्रामाणिक माना जाता था। हेमचंद्र (IX, 42) उनको चन्द्रवंश की अभिधा प्रदान करता है। गुर्जर में ब्राह्मण सम्प्रदाय का **रास** साहित्य जैनों के लेखन कार्य को सम्पूर्ण करता है। (उदाहरण के लिए कृष्ण कवि की **रत्नमाला** (तेरहवीं शताब्दी) चापोत्कट वंश के प्रवर्तक वनराज की प्रचलित वार्ता का वर्णन करता है)।

अध्याय-13

चाहमान इतिहास-लेखन तथा राजपूत परम्परा की कथाओं का विकास

ई० पू० 1129 के आसपास कश्मीर के एक ब्राह्मण और इसीलए अनुमानतः अपने आपको भार्गववंशीय मानने वाले जयानक ने एक महाकाव्य **पृथ्वीराज विजय** सपादलक्ष देश (उत्तरीय राजस्थान) के चाहमान राजा पृथ्वीराज तृतीय पर लिखा। अपने नायक को सूर्यवंशीय सम्राट् राम का अवतार समझने की प्रथा जो अब तक लोकप्रचलित हो चुकी थी, उसी का अनुसरण जयानक ने किया जो समन्वय से स्वयं वाल्मीकि हुआ जिसकी रामायण जयानक की प्रेरणा का मुख्य स्रोत प्रतीत होती है। पृथ्वीराज तृतीय ने अपने सब प्रतिवासियों के साथ बारी-बारी युद्ध किये। स्पष्ट रूप से उसका उद्देश्य अपने आपको उत्तर भारत का सम्राट बनाने का था, जहां पर (गुर्जर) प्रतिहार सत्ता के ह्रास से लेकर तब तक कोई आधिराज्य शक्ति स्थापित नहीं हो पायी थी, और जो स्वतन्त्र राज्यों का केवल एक संग्रथन था, जिसमें कान्यकुब्ज में गाहड़वाल राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही गन्धार और पंजाब के षाहि साम्राज्य को पादाक्रान्त करके तुर्क सिन्धु घाटी में आधिपत्य स्थापित कर चुके थे, परन्तु जब भी उन्होंने भारत में आगे बढ़ने का प्रयत्न किया, वे चाहमानों अथवा चौलुक्यों से पराजित हुए। जयानक के महाकाव्य में तुर्कों पर इनमें से एक विजय (1191 में) का अभिनन्दन किया गया है, जिसके पश्चात् पृथ्वीराज ने पंजाब के एक भाग पर अधिकार कर लिया था, मानो कि यह एक निर्णयात्मक विजय थी, और उसके अधिराज के पद की पुष्टि करती थी। वस्तुतः यह चन्द्रात्रेयों, परमारों चौलुक्यों तथा गाहड़वालों के साथ, हुए पृथ्वीराज के पहले युद्धों से अधिक निर्णायक नहीं थी, और इसके शीघ्र पश्चात् ही तुर्कों ने एक अधिक बलवती सेना, विशेषतः अश्वारोही वर्ग तथा बलविन्यास में अधिक कुशल थी, के साथ पंजाब पर पुनः आक्रमण कर दिया और पृथ्वीराज को पराजित किया

तथा उसका वध कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि जयानक अपने अधूरे महाकाव्य के साथ कश्मीर को लौट गया, जहां इतिहासकार जोनराज (पन्द्रहवीं शताब्दी) ने इस पर पीछे से एक व्याख्या की रचना की।

अपने महाकाव्यों के कई सर्गों में जयानक ने चाहमानों के पूर्वकालीन इतिहास का पर्यालोचन किया है। उसका मुख्य विषय यह है कि म्लेच्छों (अर्थात् मुसलमान तुर्कों) ने तीर्थस्थानों पर आक्रमण करके उनको दूषित कर दिया है, देवालयों का विध्वंस कर दिया है, कर्मकाण्ड पर रोक लगा दी है तथा दुर्भिक्ष फैला दिये हैं। अतः ब्रह्मा ने विष्णु से प्रार्थना की कि वह एक वीर-पुरुष के रूप में अवतार धारण करे, जो संसार को इस संत्रास से मुक्ति दिलवाए और विष्णु पृथ्वीराज तृतीय के रूप में अवतार लेता है। इसकी तैयारी के लिए विष्णु पहले सूर्य से प्रकाश की किरणों को लेकर जो कि उसका दक्षिण नेत्र हैं, पृथ्वीराज के पूर्वज चाहमान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यहां पर चाहमानों को सूर्यवंशीय माना गया है। ठीक जिस प्रकार कृतयुग में इक्ष्वाकु वंश सूर्य से उत्पन्न हुआ, इसी प्रकार अब **कलियुग** में उनका स्थान लेने के लिए एक और सूर्य वंश की सृष्टि की गयी है। जयानक किंचित् अपरिस्पष्ट रूप में यह कहता है कि चाहमान ने संसार में शान्ति की व्यवस्था बनाई तथा जनता पर इसके सन्तोष के अनुरूप शासन किया। तब उसने एक तीर्थ स्थान पर अपना जीवन समाप्त कर दिया, और सूर्य में लीन हो गया। उसके उत्तराधिकारियों में से वासुदेव ने एक विद्याधर से अतिमानुषिक पथप्रदर्शन प्राप्त करके वंश की एक शाखा की स्थापना उत्तरीय राजस्थान के सपादलक्ष देश में की (उसका समय सातवीं शताब्दी होगा। इसके पश्चात् इस वंश के राजा तीन शताब्दियों तक कान्यकुब्ज के सम्राटों के सामन्त बने रहे) इस काल से यह वर्णन अधिक ऐतिहासिक बन जाता है, और इसका समर्थन पुराभिलेखों तथा अन्य प्रकार के साक्ष्य से होता है। निःसन्देह (इतिहासकार) कवि चाहमानों के अक्षपटलों के वृत्तान्तों का प्रयोग कर सकता था। बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अजयराज ने अजयमेरु (वर्तमान अजमेर) की राजधानी का निर्माण किया तथा नयी मुद्राएं जारी कीं। उसके उत्तराधिकारी अर्णोराज ने तुर्कों पर मरुस्थल में एक महान विजय प्राप्त की जिसका श्लाघापरक वर्णन घटनाओं के विस्तृत वर्णन की अपेक्षा कवित्व का प्रभावोत्पादक अधिक है गुर्जर के सिद्धराज (जिसके राज्यकाल का वर्णन हेमचन्द ने किया था। ऊपर देखिये) की पुत्री के साथ उसके विवाह का उल्लेख भी है। इससे (प्रकट) होता है कि उत्तर भारत के राज्यों के परस्पर सम्बन्ध द्वेषपूर्ण नहीं थे। उनका पुत्र सोमेश्वर पृथ्वीराज तृतीय का पिता था। इस सम्बन्ध के कारण सिद्धराज को इस कथानक के एक प्रधान पात्र के रूप में दिखाया गया है, और उसके उद्भव के विषय में एक पुरा कथा दी गयी है, जिससे वह नायक का योग्य प्रपितामह प्रतीत हो सके। यह

सम्बन्ध भी पृथ्वीराज तृतीय को अपने अमात्य कदम्बवास के उपदेश के प्रभाव से तुर्कों के गुर्जर पर आक्रमण करने के समय तटस्थ रहने से नहीं रोकता, क्योंकि इस प्रकार उसके दो प्रतिस्पर्धी एक-दूसरे को दुर्बल बना देंगे। (तुर्कों के पराजित होने की परिस्थिति में)।

अपने इस नायक को राम अथवा विष्णु का अवतार मानकर (उस समय तक राम स्वयं विष्णु का अवतार माना जाने लगा था) जयानक इसके सब तर्कानुसारी परिणाम निकाल लेता है जैसा कि उसके सब अमात्य राम के अमात्यों के अथवा उसके सहायक मित्रों के पुनरवतार हैं, तथा उसकी पूर्वनिर्दिष्ट वधू राम की पत्नी सीता राज्यलक्ष्मी का पुनरवतार हैं। यह प्रतीत होता है कि अप्सरा तिलोत्तमा या तो राजलक्ष्मी है या उसका प्रतिरूप (जो कि एक ही बात है। यह किंचित् आध्यात्मिक विचार है)। पृथ्वीराज ने उसको राम के जीवन तथा अपने वर्तमान जीवन के बीच स्वर्ग में देखा था, तथा उस पर मुग्ध हो गया था और वह भी उस पर मुग्ध हो गयी थी। अब चाहमान-चित्रशाला में तिलोत्तमा का एक चित्र देखने पर उसको उस प्रेम का स्मरण हो आता है और वह उत्कण्ठित हो उठता है। स्वर्ग की एक अप्सरा के लिए ऐसा प्रेम निराशाजनक प्रतीत होगा परन्तु ठीक इसी समय राजा ने कवि जयानक को (जो यहां पर अपने आपको अपने महाकाव्य में प्रस्तुत करता है और अपने जीवन चरित के सम्बन्ध में कुछ सूचना देता है) जो कि चाहमान राजसभा में यथावसर पहुंच गया था, एक श्लोक का उच्चारण करते हुए सुना, जिसका आशय यह था कि साहसी तथा उद्योगी पुरुषों के लिए कुछ भी असंभव नहीं। वह पौराणिक उदाहरण दे रहा था। राजा को इस श्लोक से सान्त्वना मिली और उसको कवि से अनुराग हो गया और तब कवि ने यह सूचना दी कि वह अप्सरा अपने प्रेम का अनुसरण करती हुई, इस पृथ्वी पर गंगा के तट पर किसी स्थान में पहले ही राजकुमारी के रूप में जन्म ले चुकी है। इस विषय में उद्योग अपेक्षित है क्योंकि दुर्भाग्यवश उसका वाग्दान किसी दूसरे व्यक्ति को दिया जा चुका है। अपि च गन्धार का तुर्क राज्यपाल सहावदीन (मुहम्मद गोरी) राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति को लक्ष्य बनाए हुए है और उसकी प्रत्यर्थिता का भी अवश्य सामना करना है।

यह स्पष्ट है कि महाकाव्य के अन्त में (जोकि नष्ट हो गया प्रतीत होता है) पृथ्वीराज तृतीय सहावदीन को पराजित करके, और राजस्थान तथा पंजाब को मुसलमान आक्रमणकारियों से मुक्त करके गंगा की रहस्यमयी राजकुमारी से विवाह करेगा और इस प्रकार राज्यलक्ष्मी तथा अपनी प्रिया को प्राप्त करेगा। यदि वह गंगा की राजकुमारी थी तो अनुमानतः वह गाहड़वाल राज्य से आयी होगी और निस्सन्देह स्वयं कान्यकुब्ज से जो कि गंगा पर अवस्थित था। उत्तरकालीन काव्यों, विशेषतः पृथ्वीराज रासो में गाहड़वाल राजकुमारी संयोगिता

की कहानी सुरक्षित है। उसने पृथ्वीराज के शौर्य के विषय में सुना, और उसकी इच्छा उससे विवाह करने की हुई। उसका पिता (जयचन्द्र) पृथ्वीराज का शत्रु था। इस कारण उसको अपनी इच्छा को गुप्त रखना पड़ा, परन्तु वह उस वीर से पत्र-व्यवहार कर सकी। (कथा के) इस रूपान्तर में यह विद्यमान है कि जयचन्द्र ने संयोगिता के लिए एक स्वयंवर रचा, परन्तु उसमें पृथ्वीराज को निमंत्रण नहीं दिया। परन्तु वास्तव में उस (राजकुमारी) ने पृथ्वीराज को सूचना भेज दी और उसने कान्यकुब्ज की ओर प्रस्थान किया तथा उसका पीछा करती हुई सेना से युद्ध करता हुआ, उसे भगाकर ले गया। यह घटना 1191 में सहावदीन पर पृथ्वीराज की विजय के तुरन्त पश्चात् घटी हुई मानी जाती है। यदि इसका ऐतिहासिक आधार है तो यह बहुत संभव है कि जयानक ने इस प्रसंग की स्मृति में अपने महाकाव्य की रचना की और संयोगिता को तिलोत्तमा तथा राज्यलक्ष्मी के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया। जहां तक इस बात का प्रश्न है कि जयानक को यह ज्ञान था कि वह कौन थी, यह तथा स्वयं पृथ्वीराज तृतीय के अतिमानुषिक उद्‌भव तथा अन्य पौराणिक घटनाओं के ज्ञान के साथ कवियों के समस्त उपकरणों का एक अंश था, जिनकी प्रतिभा विश्व के रहस्यों के उद्‌घाटन में समर्थ समझी जाती थी। कवियों की इस शक्ति के विषय में यह परम्परागत-विश्वास वेद के ऋषियों के समय तथा उससे भी पूर्व तक चला जाता है।

पृथ्वीराज तृतीय की राजसभा के एक अन्य कवि चन्द्र द्वारा **पृथ्वीराज रासो** की रचना अपभ्रंश में की गयी मानी जाती है, जो उस समय उत्तर भारत के अधिकतम भाग की बोलचाल की भाषा थी। महाभारत की भांति यह अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं की गयी है, और शताब्दियों के अन्तर में, संकलित सामग्री की एक महान् राशि इसमें सम्मिलित की गयी प्रतीत होती है। इसके विषय से सम्बद्ध कोई भी कथा-वस्तु जो कि शायद दूसरे महाकाव्यों तथा उत्तर भारत के बहुत से राज्यों से ली गयी है, इसके साथ जोड़ दी गयी (ऊपर आठवें अध्याय के अन्त से तथा नीचे तुलना कीजिये)।

इस समय इसके अनेक भिन्न-भिन्न पाठान्तर हैं, परन्तु इन भिन्न-भिन्न स्तरों के विश्लेषणार्थ थोड़ा-सा क्या, कुछ भी आलोचनात्मक संशोधन का कार्य अभी तक नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। अधिकांश पाठान्तरों की भाषा एक प्रकार की प्राचीन हिन्दी है जो न्यूनाधिक चौदहवीं शताब्दी से आगे तक की श्रेण्य हिन्दी की ब्रजभाषा से मिलती-जुलती है। पृथ्वीराजरासो के प्रचुर भाग चौदहवीं शताब्दी से बहुत पीछे के माने जाते हैं परन्तु वर्तमान में यह प्रश्न प्रायः विमर्श का विषय है कि कोई पाठ कितना अर्वाचीन है। उसी समय की अन्य अपभ्रंश रासो (महाकाव्यों) की भी यही गति प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ एक पूर्ववर्ती चाहमान राजा पर लिखी गयी नाल्ह की **बिग्रहराज रास** के विषय में यह शंका

की जाती है कि यह उत्तरकालीन कूट रचना है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि चाहमानों के इतिहास के लिए, तथा कछ पार्श्ववर्ती देशों सहित (जैसे कि जेजाकमुक्ति) समस्त राजस्थान के इतिहास के लिए हमारे पास अधिकतम पौराणिक सामग्री की राशि ही है जिसका समय या तो अनिश्चित है या अर्वाचीन। सब प्रकार से विचार कर लेने पर यह एक इतिहास ही प्रतीत होता है। सत्रहवीं शताब्दी के राजपूतों का इतिहास एक अधिक शक्तिशाली, क्रूर तथा अत्यन्त दयाहीन शत्रु—जो अपने आधार-स्थल दिल्ली से आधे भारत को पीड़ित करता रहता था—के साथ संघर्ष की अद्भुत रसपूर्ण वीरगाथा है। बहुत से महाकाव्य इस समय दु:खान्त हैं। ये तुर्कों के अगाध सैन्यबल के विरुद्ध अन्त तक युद्ध करते हुए मरने वाले नायकों की मृत्यु के वर्णन पर समाप्त होते हैं।

नयचन्द्र (एक जैन लेखक—पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त) के संस्कृत महाकाव्य —**हम्मीर महाकाव्य** में चाहमान राजा हमीर (ई० पू० 1300 के आस-पास) की वीर रसपूर्ण तथा दु:खान्त कथा का वर्णन करने से पूर्व चाहमान वंश के इतिहास का पर्यालोचन किया गया है। कवि का कहना है कि हम्मीर स्वप्न में उसके सन्मुख प्रकट हुआ और स्वयं अपनी कथा सुनाई तथा अपने आदर्शों के विषय में उसको सूचना दी। नयचन्द्र का प्राचीन इतिहास का वर्णन सम्पूर्णता में जयानक से कम है। यह स्पष्ट है कि उसके पास किसी प्रकार के अक्षपटलों की सामग्री उपस्थित नहीं थी, जिससे वह सूचना प्राप्त करता। उसने अपनी रचना का आधार अपभ्रंश की **रासों** तथा परम्परागत मौखिक कथाओं को बनाया। नयचन्द्र ने यह वर्णन किया है कि पृथ्वीराज तृतीय किस प्रकार अन्ततः पराजित हुआ और सहावदीन द्वारा मारा गया। अपनी पूर्व पराजय के पश्चात् (जिसका वर्णन जयानक ने किया है) तुर्क राज्यपाल ने अपने सहधर्मियों से प्रार्थना की और एक नयी शक्तिशाली सेना इकट्ठी की जिसको लेकर उसने पुन: चाहमान राज्य पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज का सेनानी स्कन्द जिसने (सहाबदीन के साथ हुआ) पहला युद्ध जीता था, एक समर में अन्यत्र व्यस्त था। अत: राजा तुर्कों से टक्कर लेने के लिए स्वयं आगे बढ़ा। नयचन्द्र तथा अन्य इतिहासकारों के अनुसार वह सीमातीत विश्वस्त तथा आत्मसन्तुष्ट था। यहां तक कि एक अमात्य को जिसने सावधान रहने का परामर्श दिया पदच्युत कर दिया गया। वह अमात्य झटपट तुर्कों के साथ जा मिला और उसने शत्रु को लाभप्रद सूचना दी। इस बात पर हमारे स्रोत एकमत हैं कि पृथ्वीराज वस्तुन: निद्रा से बाधित था। यह कथन अलंकारिक रूप में भी माना जा सकता है। उसका युद्ध-कौशल भी निम्न स्तर का था। उसकी सेना वीरता से और डटकर लड़ी और एक बार से अधिक विजय के निकट जा पहुंची। तुर्कों ने शत्रु-सेना के बल को पूर्णतया स्वीकार किया और विजय लाभ के लिए अनेक चालें चलीं। एक आकस्मिक आक्रमण में पृथ्वीराज

स्वयं बन्दी बना लिया गया और तत्पश्चात् मार दिया गया। युद्ध की दिशा को बदल देने वाला अवसर तब आया जब तुर्कों ने प्रबल अश्व सेना का एक नया भाग जिसको उन्होंने समग्र युद्ध में जिसका आरम्भ एक आकस्मिक आक्रमण से हुआ था जो रात्रि में किया गया था और जो अगले दिन भर जारी रहा था, आरक्षित रख छोड़ा था। दिन के अन्त में भारतीय सेना थककर चूर हो चुकी थी। तब इस अश्व-सेना ने इसको मार गिराया। नयचन्द्र ने यह व्याख्या की है कि तुर्कों की सेना पिछले युद्ध की अपेक्षा (संख्या में) कहीं अधिक थी, जबकि अतिमात्र आश्वस्त पृथ्वीराज केवल थोड़े से बल के साथ इसका सामना करने के लिए आगे बढ़ा। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज एक निकृष्ट सेनानी और युद्ध कौशल से अनभिज्ञ था। वह केवल अपने सैनिकों की वीरता, अपने अदृष्ट की न्याय्यता, तथा देव इच्छा पर ही आश्रित था। (संभवतः पृथ्वीराज के आत्मसंतुष्टि का कारण अंशतः यह था कि उसने अभी-अभी जयानक के महाकाव्य का अध्ययन किया था जिसमें उसकी दैवी शक्तियों की प्रशंसा की गयी थी। वह अभी युवा था—तीस वर्ष से अधिक नहीं) इसके पश्चात तुर्कों ने दिल्ली अर्थात् योगिनीपुर पर अधिकार कर लिया, जो कि चाहमान राज्य के उत्तरीय भाग में एक प्रादेशक नगर था। इससे आगे पूर्व में युद्ध के उद्योग के लिये तथा गंगा की घाटी में पांच शताब्दियों से भी अधिक समय तक अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए यह एक आधार-स्थल बन गया। नयचन्द्र के अनुसार पृथ्वीराज का भ्राता हरिराज उसका उत्तराधिकारी बना तथा सेनानी स्कन्द और चाहमान सेना के शेष भाग (के साधन) से उसने युद्ध जारी रखा। उन्होंने दिल्ली में तुर्कों पर आक्रमण किया परन्तु परास्त हुए। कुछ वर्ष पश्चात् (तिथि अनिश्चित है) एक तुर्क सेना ने दिल्ली से अजमेर की राजधानी पर आक्रमण किया और एक अन्तिम तथा परम निर्णायक युद्ध में जिसमें हरिराज मारा गया, इस (नगर) पर अधिकार कर लिया।

इससे चाहमान वंश का अन्त नहीं हुआ। नयचन्द्र के अनुसार, पृथ्वीराज के एक पौत्र गोविन्दराज ने राज्य की पुनः स्थापना की और अपने पितामह के राष्ट्र के शेष भाग में रणस्तम्भपुर में अपनी राजधानी बनाई। इस सीधे सम्बन्ध पर सन्देह किया गया है, और कहा गया है कि गोविन्दराज को अधिक वैध उत्तराधिकारी सिद्ध करने के लिए एक उत्तरकालीन बनावटी कहानी हो सकती है। चाहे कुछ भी हो, गोविन्दराज के वंशज चौहदवीं शताब्दी के आरम्भ पर्यन्त, चाहमान बन कर राज करते रहे। नयचन्द्र अपने महाकाव्य के नायक हम्मीर के शासन काल पर पहुंचने तक जिसका आरम्भ ई० पू० 1283 में हुआ, गोविन्दराज के वंशजों के इतिहास का वर्णन संक्षेप में करता है। यह चाहमान कभी-कभी दिल्ली के तुर्क सुलतानों का आधिपत्य स्वीकार कर लेते थे और कभी-कभी स्वतन्त्र हो जाते थे। नयचन्द्र अपने नवम सर्ग में हम्मीर की दिग्विजय का वर्णन करता है, जिसमें मालव,

गुर्जर और राजस्थान शामिल थे। एक तुर्क स्रोत से हमें ज्ञात होता है कि 1290 में उसने तुर्कों को परास्त किया और उसके पश्चात आने वाले वर्षों में लगातार कई बार। तुर्कों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि 1298 में उनकी मुख्य सेना गुर्जर की विजय में व्यस्त थी जहां लूट के माल की सुमहान् राशि उनके हाथ आई और उन्होंने वहां के निवासियों के एक बड़े भाग का संहार कर डाला। मेरुतुंग के अनुसार (उनकी **विचारश्रेणी** में) अपने ही प्रधान मंत्री से वंचित होकर व्याघ्रपल्ली के राजस्थानीय के पराजित होने पर गुर्जर राष्ट्र विनष्ट हो गया, (इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि तुर्क राज्यपालों के अधीन, गुर्जर राज्याधिकारी, संस्कृत का प्रयोग करते हुए चिर काल तक देश के शासन का संचालन करते रहे। सहयोग देने वाले राज्यकर्मचारी यह कह सकते हैं कि इस प्रकार वे अपने देश में भारतीय क्रमागत उस सम्पत्ति के एक महान् भाग के संरक्षण में समर्थ हो सके जिसमें इसका इतिहास और जैन धर्म भी सम्मिलित है) 1299 में तुर्कों को एक मंगोल आक्रमण का सामना करना पड़ा, जो दिल्ली में ही एक अनिर्णयात्मक परन्तु घोर युद्ध से रोक दिया गया, जिसके पश्चात मंगोल लौट गये। तब तुर्क अल्लावदीन के भाई नुसरतखान के नेतृत्व में एक सबल सेना 1300 में चाहमानों के विरुद्ध भेज सके और रणस्तम्भपुर पर घेरा डाल दिया गया। नयचन्द्र ने बताया है कि किस प्रकार आत्मरक्षा करने वाले (राजपूतों) ने नुसरतखान को मार डाला और तुर्कों को परास्त किया (सर्ग XI)। अन्त में अल्लावदीन ने स्वयं 1301 में पुनः (रणस्तंभपुर का) अवरोधन कर दिया और तब तक किये रखा जब तक आत्मरक्षक क्षुधा से पीड़ित होने लगे। हम्मीर ने हार मानने से इनकार कर दिया तथा श्रेण्य रूप से राजपूतों के सम्मान को बनाए रखा। नगर में एक विशाल चिता बनाई गयी और स्त्रियों ने उसमें अपने आपको भस्मसात् कर दिया, जबकि मनुष्यों ने हम्मीद के नेतृत्व में दारुण शत्रुओं के साथ युद्ध करते हुए, मरने के लिए वेग से आक्रमण किया। इस प्रकार अपने दशम सर्ग में, नयचन्द्र, हम्मीर के स्वर्गारोहण का वर्णन करता है। यह वीररस-पूर्ण तथा दुःखान्त महाकाव्य उत्तर-मध्य-काल में भारतीय प्रकृति के आदर्श को प्रकट करता है। म्लेच्छ आततायी अब गन्धार से लेकर बंग (बंगाल) तक उत्तर भारत के जनाकीर्ण और समतल प्रदेश में स्थिरता से जम गये थे, और किसी भी स्थान पर, जिस पर वे चाहें अप्रमेय सेना से आक्रमण कर सकते थे, परन्तु इस रेखा के दोनों ओर भारतीय राजाओं ने अधीन होना स्वीकार नहीं किया और आर्यावर्त (आर्यों की भूमि) जिसके प्राचीन शासनकर्त्ताओं के वे अपने आपको वैध दामाद समझते थे, के आदर्श को जीवित रखने के लिए अपने सर्वनाश का भी, यदि ऐसी आवश्यकता हो तो, स्वागत किया।

चन्द्रशेखर का **शूरजनचरित** (सोहलवीं शताब्दी) चाहमान इतिहास पर एक और महाकाव्य है जो नयचन्द्र के ग्रन्थ से पीछे का होने के कारण कुछ कम

विश्वसनीय है। इसका मुख्य नायक अकबर का सामन्त था, जो दिल्ली के शासनकर्ताओं में से धार्मिक सहिष्णुता का आचरण करता था और राजपूतों का शत्रुता के स्थान पर उनकी सहायता का इच्छुक था।

शायद इससे भी पीछे का **पृथ्वीराजरास** का वह भाग है जिसमें चाहमान वंश के यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न होने का वृत्तान्त दिया गया है जिसका वर्णन परमार बंश के सम्बन्ध में ऊपर किया जा चुका है। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, इससे चाहमानों के सूर्यवंशी होने की परम्परागत-कथा का निराकरण पूर्णरूप से नहीं हुआ, और यह एक अधिक लोकप्रसिद्ध परम्परागत विश्वास प्रतीत होता है, जो कि चाहमान राजसभा के राजकीय इहितास लेखन के साथ-साथ ही विकसित हो चुका था। परन्तु यह एक उलझा हुआ प्रश्न है जिसका परिपूर्ण रूप से अनुसन्धान नहीं किया गया। शायद कुछ लोगों का यह विश्वास था कि पौराणिक कथानकों के और प्राचीन राजवंश सचमुच लुप्त हो चुके थे, जैसा कि स्वयं **पुराण** ही इस प्रकार का संकेत करते हैं। ये लोग वर्तमान वंशों का उद्‌भव किसी प्रकार उन (प्राचीन) वंशों से निकालने के प्रयासों का अवमूल्यन करते थे। साथ ही चाहमानों के उद्‌भव की ये दो परम्परागत कथाएं पूर्ण रूप से परस्पर विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि इनमें कुछ आवश्यक तत्त्व साझे हैं। प्रथम तो प्रामाणिक वैदिक धर्म परम्परा में यह माना गया है कि तत्त्वत: अग्नि एक सौर देवता है, वैसा ही देवता जैसा कि सूर्य, परन्तु आकाश के स्थान पर पृथ्वी पर प्रादुर्भूत। इस प्रकार सूर्य की किरणों को पृथ्वी पर लाने का अर्थ होगा अग्नि को प्रज्वलित करना। दूसरे, दोनों ही परम्परागत विश्वास सहमत हैं कि चाहमान को विष्णु ने उत्पन्न किया, चाहे सूर्य की किरणों से (जयानक) चाहे यज्ञ की अग्नि से (**पृथ्वीराजरास**) यह बात भी साथ जोड़ी जा सकती है कि वेद में विष्णु स्वयं एक सौर देवता है।

वास्तव में **पृथ्वीराज रास**, अर्बुद पर्वत पर किये गये यज्ञ से भारत के क्षत्रियों की पुनरुत्पत्ति का कार्य सम्पन्न करने के लिए चार बड़े देवताओं को बीच में लाता है। उस समय विश्व अस्त-व्यस्त दशा में था और दैत्यों अर्थात् म्लेच्छों द्वारा आक्रांत था। ब्राह्मणों ने मानव-जाति तथा सभ्यता की रक्षा के लिए क्षत्रियों की सृष्टि के लिए देवताओं का आह्वान किया। पहले युद्ध के प्राचीन देवता तथा देवताओं के राजा इन्द्र का आह्वान किया गया और उसने परमार को पवित्र अग्नि से उत्पन्न किया (यह पद्‌मगुप्त के वर्णन का विस्तार है)। तत्पश्चात्, ब्रह्मा ने अग्नि से चौलुक्य को उत्पन्न किया। (हमने ऊपर ब्रह्मा द्वारा चौलुक्य की उत्पत्ति के विषय में पुराने विश्वास का उल्लेख किया है, परन्तु कर्म-काण्ड के जल के एक चुलुक से। इस प्रकार राजवंशों की प्राचीन पारिवारिक कल्पित कथाओं के स्थान पर एक अधिकतर राष्ट्रीय तथा भारतीय कल्पित कथा के निर्माण के लिए अन्य कल्पित कथाओं का समन्वय तथा संमिश्रण किया जाता है) तीसरे रुद्र (शिव) ने

प्रतिहार को उत्पन्न किया। अन्ततः विष्णु ने चाहमान की उत्पत्ति की। तब चारों क्षत्रियों को पृथक्-पृथक् देश सौंप दिये गये। अर्बुद परमार को, अवन्ति चौलुक्य को, गुर्जर (अणहिल पुर), प्रतिहार को, मरुस्थली (पश्चिम में प्रायशः मरु प्रदेश, जिसकी पुरानी राजधानी माण्डव्यपुर थी) और चाहमान को महिष देश (नर्मदा घाटी का मध्य भाग, जिसकी राजधानी महिष्मती थी)। यह माना जाता है कि चाहमानों ने, यहां से समस्त भारत में विजय का प्रस्तार किया। अन्त में प्रधान कुल सपादलक्ष में स्थापित हो गया।

प्रतिहार (अथवा गुर्जर-प्रतिहार अर्थात् गुर्जर जो एक समय समस्त राजस्थान का नाम था—से आए हुए) राजस्थान की पश्चात् समय की परम्परागत कथाओं में किंचित् छोटा तथा अप्रसिद्ध वंश है, क्योंकि चिरकाल पहले उनका राज्य कहीं भी नहीं रह गया था। परन्तु आठवीं शताब्दी से लेकर दशवीं शताब्दी के अन्त तक उन्होंने उत्तर भारत के सबसे बड़े साम्राज्य का उपभोग किया था। वे कान्यकुब्ज से आर्यावर्त पर शासन करते रहे। वे अन्तिम भारतीय शासनकर्ता थे जो उत्तर (भारत) में एक सक्षम साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए। हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि जैन इतिहासकारों ने प्रतिहार सम्राट् नागभट द्वितीय तथा भोज प्रथम (आठवीं तथा नवमी शताब्दियों) के विषय में कुछ परम्परागत कथाएं सुरक्षित कर रखी हैं। प्रतिहारों के संरक्षण में लिखा गया कोई ऐतिहासिक ग्रंथ सुरक्षित रह गया प्रतीत नहीं होता परन्तु उनके विद्यमान अभिलेखों में यह उपलब्ध होता है कि वे अपने आपको सूर्यवंशी मानते थे जो मूल इक्ष्वाकुओं के सीधे वस्तुतः राम के भ्राता लक्ष्मण के वंशज थे। इसके विपरीत नवमी शताब्दी में इस वंश की एक लघ्वी शाखा के अभिलेख, उस शाखा की उत्पत्ति एक ब्राह्मण पूर्वज हरिश्चन्द्र से हुई अभिलिखित करते हैं जिसने अभिजात कुल में विवाह किया। अधिक संभावना यही है कि यह प्राचीनतर तथा मूल परम्परागत वृत्तान्त के अधिक निकट है। इससे यह सुझाव मिलता है कि वस्तुतः प्रतिहार पुराणों में उल्लिखित अन्य (वंशों) की भांति एक और ब्राह्मण कुल के थे और उन्होंने अपने शासन को अधिक समीचीन बनाने के लिए क्षत्रिय जाति में विवाह किया।

इस प्रकार के ब्रह्म-क्षत्र (पुरोहित तथा योधा) वंशों के सम्बन्ध में पाठक ने कुछ साक्ष्य का उल्लेख किया है और इसकी तुलना अग्निकुल ब्राह्मणों से की है। (अग्नि देवता के वंशज, उदाहरणार्थ अग्निवेश जो वशिष्ठ गोत्र के थे) इस प्रकार अग्निकुल क्षत्रियों से पहले अग्निकुल ब्राह्मण थे, और उतरोक्तों का सम्बन्ध पूर्वोक्तों से रहा होगा। पीछे से अपने उद्भव की परम्परागत कहानी को एक पौराणिक कथा में बदल दिया जो कि उतनी ही मानार्ह थी जितनी कि पुरातन पौराणिक अभिजात कुलों के उद्भव की कहानी। मूल परम्परागत-कथा तथा पौराणिकी कथा के बीच हमारे सामने वह कहानी भी है जिसके अनुसार प्रतिहार

सम्राट् लक्ष्मण के वंशज माने गये हैं। जहां तक मरुस्थली में प्रतिहारों की भौगोलिक स्थिति का प्रश्न है, इसकी पुष्टि इस वंश के सुविदित चिह्नों से होती है जो कि छठी शताब्दी में माण्डव्यपुर में पाए जाते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में सम्राट्वंश के राष्ट्रकूट वंश द्वारा कान्यकुब्ज में निराकृत हो जाने के पश्चात् प्रतिहार माण्डव्यपुर में तब तक शासन करते रहे जब तक कि वे वहां से भी उन्हीं राष्ट्रकूटों द्वारा जो स्वयं कान्यकुब्ज से (गाहड़वालों) द्वारा निरस्त किये गये थे, विस्थापित नहीं किये गये। (राजस्थान के उत्तरकालीन इतिहास ग्रन्थ माण्डव्यपुर की इन घटनाओं का उल्लेख करते हैं, परन्तु वे भ्रान्ति से राष्ट्रकूटों को गाहड़वालों में मिला देते हैं, जिन का उद्भव संभवत: उसी वंश की एक शाखा के रूप में हुआ था)।

राजस्थान के विभिन्न राज्यों ने अपने इतिहास ग्रन्थ, विशेषत: गद्य (में लिखे हुए) **ख्यात** 'वर्णन' अथवा घटनाओं के क्रमिक इतिवृत्त (जो अब विद्यमान हैं वे सोलहवीं शताब्दी से लेकर आगे के हैं) विभिन्न लेखकों द्वारा, उनके राजाओं की वंशावलियों के ढांचे पर लिखे गये हैं, सुरक्षित रखे हैं। प्राय: व्यक्तिगत रूप में राजाओं पर अनेक महाकाव्य (**रास**) हैं, परन्तु उनके पूर्वजों के कुछ वर्णनों समेत ऐतिहासिक तथ्यों के लिए वे बहुत कम विश्वसनीय हैं। इस प्रकार राजस्थान के सुदूर पश्चिम में जैसलमेर की 'घटना-सूचियां' कृष्ण के यादव वंश से अपने राजाओं का उद्गम निकालते हैं, जिसका शासन भारत-युद्ध के समय सौराष्ट्र या गुर्जर पर रहा था। ये यादव गृह-कलह तथा प्राकृतिक उपद्रवों के कारण विनष्ट हो गये थे। तत्पश्चात् कृष्ण के पुत्र पहले तो पंजाब को चले गये और पीछे पश्चिम की ओर बढ़े और जागुड़ में जो अफगानिस्तान में है, अपना राज्य स्थापित कर लिया। यहां पर कई शताब्दियों के पश्चात् उनके वंशजों को मुसलमान तुर्कों तथा अरबों के भारत पर आक्रमणों के प्रहारों को सहन करना पड़ा। (आठवीं तथा नवमी शताब्दी में) उन्होंने अरबों को परास्त किया परन्तु आक्रमणों की निरन्तर गति के पश्चात् अन्त में (ई० पू० 870 के आसपास) तुर्कों से पराभूत होकर, शेष पंजाब में जाकर बस गये। बारहवीं शताब्दी में (1157) वे जैलसमेर में एक नया राज्य स्थापित करने में सफल हुए। इस राज्य की उन्होंने सम्पूर्ण उत्तर-मध्य युग में तुर्कों से रक्षा की (और मध्य युगीन भारत के महान्तम पुस्तकालयों में से एक को सुरक्षित रख सके)। यहां पर इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि सिन्धु घाटी के जाट अपने आपको जागुड़ के जाट मानते हैं। टाड ने अपने ग्रन्थ Annals of Antiquities of Rajsthan में जैसलमेर के 'घटना-वर्णनों' में दिये गये इतिहास का संक्षेप कई अध्यायों में किया है।

इसी प्रकार मरुस्थली के **ख्यात** राष्ट्रकूट वंश के इतिहास का वर्णन करते हैं। इस वंश ने वहां आधुनिक काल पर्यन्त पहले पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में

प्रतिहारों को विस्थापित करके माण्डव्यपुर में और तब 1459 में अपनी नयी राजधानी जोधपुर से शासन किया। राष्ट्रकूट या तो राम के पुत्र कुश की सन्तान होने के नाते या किसी अन्य प्रकार से सूर्यवंशी होने का दावा करते थे। वे कान्यकुब्ज के राष्ट्रकूटों के वंशज होने की भी घोषणा करते हैं (और इनमें गाहड़वालों को भी मिला लेते हैं जो वस्तुतः बारहवीं शताब्दी में उनके अधिपति थे, और जिनके साथ उनके विवाह सम्बन्ध भी संभवतः थे। इनको एक महान् सम्राट् कुल समझा जाता था यद्यपि इनका शासन अर्धशताब्दी से भी कम समय के लिए वहां रहा।) परन्तु एक इतिहास का ग्रंथ दक्षिण के राष्ट्रकूटों को इनका पूर्वज कहता है। वास्तव में अधिक संभावना इस बात की है कि सारे राष्ट्रकूट महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश के राष्ट्रकूटों से उत्पन्न हुए हैं, और उत्तर के राष्ट्रकूट, दक्षिण के राष्ट्रकूट साम्राज्य के परम विस्तार के समय आठवीं-दशमी शताब्दी में स्थानीय राजाओं के रूप में वहां स्थापित हो गये। शासन करने वाले वंशों का इस प्रकार का विस्तार मध्ययुग में एक साधारण घटना बन गयी प्रतीत होती है। जब सम्राट् अपने बान्धवों को विजित प्रदेशों में सामंत स्थापित कर देते थे। यह स्पष्ट है कि टाड ने मरुस्थली के इतिहास के ग्रंथों का अधिक प्रयोग नहीं किया परन्तु इनके स्थान पर अपने इतिहास के लिखने में कई एक महाकाव्यों का प्रयोग किया, विशेषतः कर्ण के **सूर्यप्रकाश** का (अठारहवीं शताब्दी) कर्ण ने पौराणिक शैली में विश्व की सृष्टि से अपने काव्य का आरम्भ किया है, यहां से वह इक्ष्वाकु वंश की ओर चल पड़ता है, जो सुमित्र पर पहुंचकर समाप्त हो जाता है (जैसा कि पुराणों में दिया है)। (यदि सुमित्र नाम का कोई राजा रहा हो तो उसने संभवतः ई० पू० पांचवीं शताब्दी में राज्य किया होगा। इसका स्थान मगध साम्राज्य ने लिया होगा)। यहां से कान्यकुब्ज के राजाओं पर्यन्त (ई० पू० ग्यारहवीं शताब्दी) एक बहुत विशाल अन्तर है। कर्ण झटपट अपना वर्णन मरुस्थली के राष्ट्रकूटों तक तथा अपने काव्य के नायक जसवन्तसिंह (सतरहवीं शताब्दी) तक जो उसका वास्तविक विषय है, पहुंचा देता है। राजा जसवन्तसिंह एक कवि साहित्य समालोचक तथा योद्धा था। इसका राज्यकाल अत्यन्त महत्त्व रखता है जिसमें तुर्क (मुगल) सम्राटों के साथ संधि तथा विग्रह के समय मुगलों की नीति के दोलायमान होने के अनुसार क्रम से आते हैं। कर्ण अपने वर्णन में अपने समय की तथा अभयसिंह के राज्यकाल की एवं मुगलों (दैत्य और असुर) के ह्रास पर्यन्त, तथा अपनी आंखों देखी घटनाओं जिनमें उसने स्वयं भाग लिया था, समाविष्ट करता है। यह विद्वान् कवि एक योद्धा तथा नीतिज्ञ भी था। वह अपने आपको कान्यकुब्ज के राष्ट्रकूटों की राजसभा के राजकवि का वंशज मानता था। मरुस्थली के राष्ट्रकूटों के विषय पर अठारहवीं शताब्दी की संस्कृत रचनाओं में अजीतसिंह पर लिखा गया **अजितोदय** तथा

अभयसिंह पर लिखा गया **अभयविलास** ध्यान के पात्र हैं।

राजपूतों का एक वंश जो संभवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और निश्चित रूप से अत्यन्त प्राचीन है, अवन्ति (मालव) और मरुस्थली के बीच का पर्वतीय प्रदेश मेदपाट (मेवाड़) का गुहिलपुत्र वंश है। यह वंश इस प्रदेश पर ई० प० छठी शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक (अर्थात् उनके राज्य के भारत के गणतन्त्र में विलीन हो जाने तक) शासन करता चला आया है। गुहिल पुत्रों के दीर्घ इतिहास के विषय में परम्परागत वार्ताओं की एक महान राशि एकत्रित हो गयी है। (सोलहवीं शताब्दी के आस-पास से) यह परम्परागत वार्ताएं उनका उद्गम सीधे सूर्यवंश से सुमित्र के द्वारा राम से निकालती हैं और अन्तिम इक्ष्वाकु से आगे एक नाम माला इसके साथ जोड़ देती हैं। इसके विपरीत उनके प्राचीन अभिलेख (दसवीं से तेरहवीं शताब्दी) यह कहते हैं कि वे मूलतः ब्राह्मण थे और पश्चात् ब्रह्मक्षत्र (पुरोहित-क्षत्रिय) बन गये। (माण्डव्यपुर में इनके दीर्घकाल के पड़ोसी प्रतिहारों से जिनकी विवेचना की जा चुकी है तुलना कीजिए)।

परम्परागत वार्ता पर पुनः दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि मेदपाट के गुहिल पुत्रों के सन्निहित पूर्वज वलभी (सौराष्ट्र अथवा गुर्जर की पूर्व-मध्यकालीन राजधानी) के राजा थे अर्थात् मैत्रक वंश के राजा (जिन्होंने पांचवीं शताब्दी में गुप्तों के राज्यपालों के रूप में शासन करना आरंभ किया था) और क्रमशः गुप्त-साम्राज्य के ह्रास के साथ-साथ स्वतन्त्र हो गये। राजपूत पुराकथा उनके नाम की व्युत्पत्ति सूर्य देवता मित्र से करती है। एक पुराकथा में वर्णन है कि वलभी के विध्वंस (वस्तुतः अरबों द्वारा आठवीं शताब्दी में, जिसके अनन्तर गुर्जर का चापोत्कट वंश, एक नयी राजधानी के अधिकार में आया) तथा राजा शीलादित्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी महिषी पुष्पवती ने पर्वतों की ओर निष्क्रमण किया और एक गुहा में एक पुत्र को जन्म दिया। उसके वहां जन्म लेने के कारण बालक को गुहा (गुफा) या गुहदत्त कहते थे और जिस वंश की उसने स्थापना की उसको गुहिलपुत्र। इस पुरा-वार्ता का प्रतिषेध मैत्रिकों तथा गुहिलपुत्रों के अपने पुराभिलेखों में दी गयी तिथियों द्वारा होता है क्योंकि मैत्रक आठवीं शताब्दी के मध्य तक शासन करते रहे (छठी शताब्दी के अन्त में शीलादित्य प्रथम) जबकि उत्तरोक्त का आशय यह है कि गुहदत्त छठी शताब्दी में विद्यमान था। दोनों परिवारों के बीच किसी अन्य संबंध का निराकरण इससे नहीं होता, परन्तु वर्तमान के साथ भूत के संबंध के विषय में जिस बात पर विश्वास किया जाता था, उसके बतलाने में इसका महत्त्व है न कि जो कुछ वस्तुतः घटित हुआ उसके। यह पुरा-वार्ता गुहिलपुत्रों और म्लेच्छों (मुसलमानों) की शत्रुता का समय पूर्ववर्ती काल से निर्दिष्ट करती है। यह पौराणिक-वार्ता निस्संदेह विक्रमादित्य के लिए अयथार्थ विक्रम संवत् की तिथि को स्वीकार करके जिसकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं,

सुमित्र को विक्रमादित्य का समकालीन बनाने के उद्देश्य से, पौराणिक तिथि-गणना में बहुत खींचतान करती है। इस प्रकार इक्ष्वाकुओं से मैत्रकों तक समय के अन्तर को पाट दिया जाता है। (उत्तरोक्त गुप्तों द्वारा सौराष्ट्र में राज्यपाल नियुक्त किये जाने के कारण औचित्य से ही विक्रमादित्य (अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय) के साथ तिथि क्रम में संबद्ध कर दिये जाते हैं।)

मेदपाट महाकाव्यों तथा घटना-वर्णनों से संपन्न है (जिनमें कुछ में से टाड ने अपने 'Annals' के असंख्य अध्यायों का निर्माण किया) जो अद्भुत-रसपूर्ण तथा संदिग्ध इतिहास को उपस्थित करते हैं। सबसे प्राचीन प्राप्य महाकाव्य **खुमानरास** का पुरातनतम भाग है, यद्यपि परिशिष्टों द्वारा इसका वृत्तांत प्रतापसिंह प्रथम के समय (सोलहवीं शताब्दी) तक जारी रखा गया है। परन्तु पुरातन भाग भी अपने वर्तमान स्वरूप में, इसकी भाषा की दृष्टि से तथा भारत का जो वर्णन यह करता है, उसकी अस्पष्टता के कारण उन घटनाओं से, जिनका यह स्मारक है, कई शताब्दियां पीछे का प्रतीत होता है। इस अस्पष्टता के परिणामस्वरूप यह संदेह उत्पन्न हो गया है कि आया इस महाकाव्य का राजा खुम्पण उस नाम का प्रथम राजा है (आठवीं शताब्दी) अथवा द्वितीय। (नवमी शताब्दी का पूर्वार्द्ध) कालभोज का उत्तराधिकारी होने के कारण वह प्रथम होना चाहिए। (पक्षांतर का यह सुझाव है कि नायक बप्पा जो कि एक उपाधि है, नाम नहीं। जो पुरा-कथाओं में प्रसिद्ध है कि वह राजा खुमाण ही है, परन्तु ऐसा करने का केवल एक ही हेतु है कि दोनों ही प्रसिद्ध थे। बप्पा ने गुहिलपुत्र राज्य की जो मेदपाट के श्राभीर लोगों के विद्रोह द्वारा थोड़े से समय के लिए विस्थापित कर दिया गया था, पुनः स्थापना की तथा उसने मौर्य वंश को पराजित करके उसका उन्मूलन किया, जिसने उस देश के एक भाग पर शासन किया था और इस प्रकार अपने राज्य को दृढ़ बनाया।) **खुमाणरास**, राजस्थान पर किये गये एक अरब आक्रमण के खुमाण द्वारा विफल किये जाने का कीर्तन करती है और इस प्रकार इस्लाम के विरुद्ध राजस्थान की रक्षा के दीर्घ इतिहास का आरम्भ करती है। उत्तरकालीन गुहिलपुत्रों में से किन्हीं पर पृथक् महाकाव्य रचे गये हैं, जैसे कि जगतसिंह पर **जगद्विलास**, राजसिंह पर **राजप्रकाश** तथा **राजविलास** और जयसिंह पर **जयविलास** (इन सबने सत्रहवीं शताब्दी में राज्य किया) यह ध्यान देने योग्य है कि चौदहवीं शताब्दी से (हम्मीर के साथ आरंभ करके) गुहिलपुत्र वंश शिशोदिया कहलाता है क्योंकि इसकी एक छोटी शाखा तब राज्य सिंहासन का उत्तराधिकार प्राप्त किया। इन महाकाव्यों की तुलना में, काव्य-गुण में कम, परन्तु इतिहास की दृष्टि से अधिक विशुद्ध **नैणसी** का **ख्यात** (घटना-वृत्तान्त) है (सत्रहवीं शताब्दी)।

खुमाणरास के परिशिष्टों के अन्तर्गत, 1303 में अलाउद्दीन द्वारा चित्रकूट के अद्भुत तथा शोकप्रद अवरोधन तथा विध्वंस का वृत्तांत है। (क्योंकि युद्ध का

लक्ष्य राज-महिला पद्मावती की प्राप्ति था) जो कि नयचंद्र द्वारा किये गये रणस्तम्भपुर के अवरोधन के वर्णन के तुल्य है। पद्मावती गुहिलपुत्र राजा भीमसिंह या रत्नसिंह की महिषी थी। (बड़ी शाखा में अन्तिम—पहला नाम शुद्ध प्रतीत होता है।) यह माना जाता है कि अलावदीन ने उसके सौन्दर्य के विषय में सुन रखा था। उसने उसके (पद्मावती) समर्पण का आदेश भेजा। इसका प्रत्याख्यान होने पर एक दीर्घकालीन अवरोधन का आरंभ हुआ। जब स्थिति निराशाजनक हो गयी और राजा के पुत्रों में से एक को छोड़कर शेष सब वीरतापूर्ण धावों में मारे जा चुके थे, तब जो पुत्र शेष रह गया था वंश तथा संघर्ष को जारी रखने के लिए छोटी शाखा के हम्मीर के साथ जिसने अन्त में चित्रकूट पर पुन. अधिकार किया, घेरे से बाहर निकल गया। दुर्ग के एक भूमिगृह में चिता पर सब स्त्रियाँ पद्मावती सहित भस्मसात् हो गयीं, जबकि राजा तथा शेष रह गये पुरुष मरने के लिए शत्रु पर टूट पड़े। यह कहानी हिन्दी के ऐतिहासिक अद्भुत-रसमय काव्य **पद्मावती** के रूप में जायसी (सोलहवीं शताब्दी) जिसका संरक्षण गंगा के प्रदेश का (कोशल—उ० प्र०) एक भारतीय राजा करता था, द्वारा परिणत की गयी। जायसी मुसलमान था, परन्तु इने-गिने मुसलमान सूफियों में से एक था जिसका झुकाव सहिष्णुता की भारतीय परम्परा तथा महाकाव्य लिखने की भारतीय शैली की ओर था। उसके काव्य का अन्त पद्मावती की मृत्यु के साथ होता है जो अपने पति (जायसी के पाठांतर में वह पहले ही युद्ध में मारा जा चुका है) के शव से लिपटी हुई चिता में कूद पड़ती है। चित्रकूट की सब महिलाओं ने अपने आपको भस्मसात् कर डाला तथा सब पुरुष युद्ध करते हुए मारे गये, जायसी यह कहता है। अलावदीन ने यह कहते हुए कि 'संसार निःसार है' मुट्ठी भर राख बिखेर दी। (उसके तत्पश्चात् किये गये कर्म कोई ऐसा संकेत नहीं देते कि उसने वास्तव में इस प्रकार की कोई शिक्षा ग्रहण की) जायसी इस कहानी को एक दृष्टांत की संज्ञा देकर इसकी व्याख्या करता है—अलावदीन मोह है, पद्मावती ज्ञान है, गुहिलपुत्र राजा मन है, इत्यादि, परन्तु यह रहस्यात्मक बनी रहती है। इस अद्भुत रस के काव्य के ऐतिहासिक आधार के विषय में संदेह किया गया है, परन्तु इसकी रूप-रेखा की पुष्टि नैणसी के घटना-वृत्त से हो जाती है, जो कि मेदपाट का वास्तविक इतिहासकार था।

राजस्थान के उत्तर-पूर्वीय भाग में अम्बावती ('अम्बर' जो प्रायः जयपुर के नाम से विज्ञात है, इसी से संलग्न, अठारहवीं शताब्दी का एक नया नगर है) राजनैतिक इतिहास की अपेक्षा सांस्कृतिक इतिहास के लिए रुचिकर है। चाहमानों के इतिहास यह सूचित करते हैं कि अम्बावती के कच्छवाह या कच्छवघात वंशी (जिसकी स्थापना स्पष्टतया दशमी शताब्दी में हुई) सपादलक्ष के राजाओं के सामंत थे, जबकि आरंभ में वे चन्द्रत्रेयों के अभिलेखों (विशेषतः ग्यारहवीं

शताब्दी) के अनुसार, उत्तरोक्तों के सामंत प्रतीत होते हैं। सोलहवीं शताब्दी से कच्छवाहे प्राय: दिल्ली के तुर्क-मुगलों के सामंत थे, जो उनके सबसे निकट राजपूत राज्य था, जो अपने अधिपतियों के साथ सौहार्द का ऐसा संबंध चाहते थे जिससे वे भारतीय परंपरा को सुरक्षित रखने में स्वतंत्र हों। कच्छवाहों के घटना-वृत्तांत तथा महाकाव्यों में वे अपने को इक्ष्वाकु राम के पुत्र कुश के वंशज घोषित करते हैं, और इस प्रकार सूर्यवंश की संतति। (परन्तु वे किसी अविच्छिन्न वंशावली बनाने का प्रयत्न नहीं करते, जैसा कि गुहिलपुत्रों की परम्परा कथाओं में प्रस्तुत किया जाता है।) राजा पृथ्वीराज (1500 के आस-पास) ने कच्छवाहों की शासन व्यवस्था पर स्थायी प्रभाव अंकित किया है और वह ऐसा प्रथम योग्य राजा प्रतीत होता है जिसके विषय में उत्तरकालीन घटना-वार्ताओं तथा महाकाव्यों में बहुत कुछ कहा गया है। एक शताब्दी पश्चात् मानसिंह (**मानचरित** का नायक) ने अपनी सौहार्द की नीति में अपने अधिपति अकबर को एक समानशील सहकारी पाया, परन्तु अन्त में मुगल साम्राज्य के भाग्य पर प्रभाव डालने के प्रयत्न में (सीमा से) बहुत आगे निकल गया।

अम्बावती का सर्वाधिक विशाल राजा जयसिंह द्वितीय है। (1699-1743) जिसने जयपुर की स्थापना की और जो एक नीतिज्ञ, विद्वान् तथा वैज्ञानिक था। जैसे ही मुगल साम्राज्य का ह्रास होने लगा उसने भारतीय पुनरुत्थान को, अम्बावती की सन्धि उदीयमान मराठों के पक्ष में परिवर्तित करके, प्रोत्साहन प्रदान किया। उसने प्राचीन पद्धतियों को पुनर्जीवित किया जैसे कि अश्वमेध यज्ञ का वैदिक कर्मकाण्ड। वह अपने कृत्यों तथा अनुसन्धान कार्यों की एक अद्भुत दैनिक पत्रिका रखता था जिसे **कल्पद्रुम** (इच्छापूर्ति का वृक्ष) की संज्ञा दी गयी है और एक प्रमुख ऐतिहासिक अभिलेख है। उसने ज्योतिष विज्ञान का अध्ययन किया और इसको उन्नत किया तथा जयपुर, उज्जयनी, वाराणसी में तथा अन्यत्र अनेक वेधशालाएं बनवाकर उनमें अत्यन्त सूक्ष्म यंत्र प्रतिष्ठित किये। जयसिंह द्वितीय का उत्तराधिकारी उसका पुत्र ईश्वरसिंह हुआ और समकालीन कवि कृष्ण शर्मा ने उस पर **ईश्वरविलास** नाम का एक संस्कृत महाकाव्य लिखा, यद्यपि कथित नायक को उसका पिता आच्छादित कर देता है। चौदह सर्गों में से द्वितीय से दशम तक जयसिंह द्वितीय (अपने पूर्वजों के साथ प्रथम) राज्यकाल का वर्णन करता है। ईश्वरसिंह का जन्म आठवें सर्ग में होता है और यथायोग्य शिक्षा के पश्चात् युवराज बना दिया जाता है। नवम सर्ग में एक युद्ध-यात्रा में वह अपने सैनिक गुणों का प्रदर्शन करता है और दशम सर्ग में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर अभिषिक्त होता है। उसके अभिषेक के पश्चात् हुए उत्सवों के वर्णन के अनन्तर, दशम सर्ग में ही कवि को इस महाकाव्य के लिए नियुक्त किये जाने तथा (कवि द्वारा) इसकी भेंट किये जाने के वर्णन हैं। तथापि अन्तिम

चार सर्गों में अनुमानतः उत्तरवर्ती घटनाओं का वर्णन है जिनका विषय बहुशः राजपूत नीति और प्रतिस्पर्धा है, जिनमें ईश्वरसिंह द्वारा मेदपाट के राजा की पराजय का वर्णन है। मराठों की सहायता से जिसका लक्ष्य अपने भतीजे ईश्वर सिंह के सौतेले छोटे भाई को जयपुर के सिंहासन पर बिठाना था। महाकाव्य समाप्त हो जाता है। यह घटना ईश्वरसिंह के राजसिंहासन पर बैठने के पांच वर्ष पश्चात् हुई और भाग्यहीन विजेता इसके पश्चात् चिरकाल तक जीवित नहीं रहा, क्योंकि उसके शत्रु ने मराठों के साथ मिलकर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा, और वह पूर्णरूप से उनके संरक्षण पर आश्रित था। उसने 1751 में, अपमान से बचने के लिए आत्महत्या कर ली। पहले सर्ग जिनमें जयसिंह द्वितीय के कृत्यों का वर्णन हैं, सौतेले भ्राताओं के परस्पर संघर्ष की अपेक्षा अधिक रोचक है (सप्तम सर्ग में मेदपाट के राजा की एक पुत्री के साथ जयसिंह के घातक विवाह का उल्लेख किया गया है, जो जयपुर के राजसिंहासन पर अपनेदौहित्र को बिठाने का शपथ लेता है।)

कच्छवाह वंश पर एक उत्तरवर्ती संस्कृत महाकाव्य सीताराम का **जयवंश** है जिसकी रचना 1030 के आस-पास हुई (जयसिंह तृतीय के राज्यकाल में) इस राजवंश पर अन्य महाकाव्य भी लिखे गये हैं, तथा राजस्थान के लघुतर वंशों पर (प्रायः उनकी शाखाएं जिनकी विवेचना ऊपर की जा चुकी है) कतिपय घटना-वृत्तान्त तथा महाकाव्य हैं। चलते-चलते हम यह भी ध्यान में ले आएं कि तुर्कों ने घटना-वृत्तान्तों की एक माला की रचना कर डाली जो प्रायः पारसीक भाषा में लिखे गये, जिनका विषय भारत पर उनका शासन था, जो इसलाम धर्म के इतिहास का एक भाग था तथा अरब के इतिहास का एक परिशिष्ट, जो इस धर्म की जन्मभूमि है, तथा परिग्रह द्वारा सब मुसलमानों की। भारतीय सभ्यता के साथ इनका सम्बन्ध, केवल प्रतिषेधात्मक है। ये ऐसे अभिलेख हैं जिनमें इस सभ्यता के विनाश के प्रयत्नों का वर्णन है।

अध्याय-14

जेजाकभुक्ति का इतिहास लेखन

जेजाकभुक्ति (अथवा 'बुन्देलखण्ड' अथवा 'महोबा'), वह देश जो राजस्थान के पूर्व में तथा यमुना के दक्षिण में है, उसका इतिहास कम प्रसिद्ध है क्योंकि प्राची चन्द्रात्रेय वंश धीरे-धीरे विलुप्त हो गया और इसके अभिलेख प्राय: नष्ट हो गये। (इनके पश्चात् जेजाकभुक्ति के भिन्न-भिन्न भागों में बुन्देल और बघेल वंश हुए) एक काव्य जिसको प्राय: **महोबा खण्ड** (महोत्सव खण्ड) कहा जाता है, **पृथ्वीराजरासो** के साथ ही, स्पष्टत: चन्द्र के महाकाव्य के एक भाग के रूप में (इस समय तक) पहुंची है। इसमें 1182 में चन्द्रात्रेय राजा परमर्दी के विरुद्ध पृथ्वीराज के एक विजयी अभियान का वर्णन है। इसको **परमर्दिरास** भी कहा जाता है। संभवत: कुछ अंशों में यह चन्द्रात्रेय स्रोतों पर आधारित है और यह एक ऐसा काव्य भी हो सकती है जो मूल में जेजाकभुक्ति में ही लिखी गयी हो, परन्तु अन्त में इसमें परिवर्तन भी किया गया और इसको क्रमश: बढ़ती हुई **पृथ्वीराजरासो** के ग्रन्थकाय में मिला दिया गया। इसके भिन्न-भिन्न रूपांतर है, जो इसके पाठों के इतिहास को जटिल बना देते हैं।

चंद्रात्रेयों से पहले, एक गाहड़वाल वंश ने (पीछे, कान्यकुब्ज में शासन करने वाले गाहड़वालों से यह भिन्न है) जो वाराणसी में प्रतिष्ठित था, जेजाकभुक्ति पर शासन किया। अनुक्रम से उनसे पहले एक गौड़ वंश आ चुका था जो महिष्मती से शासन करता रहा था। इस कारण **महोत्सवखण्ड** का आरम्भ 'वंश त्रयी' के इतिहास के ख्यापन से होता है। तथ्य यह है कि अपने वर्तमान रूप में, गौड़ों के विषय में यह हमको कोई सूचना नहीं देता और गाहड़वाल राजाओं के नामों से अधिक इसमें कुछ भी नहीं। इसका उद्देश्य केवल चंद्रात्रेयों को प्रस्तुत करके उनके उद्भव की व्याख्या करना था। अंतिम गाहड़वाल राजा जिसका नाम दिया गया है, इन्द्रजित था। हेमराज नाम का एक ब्राह्मण इसका पुरोहित था जिसकी सुन्दर पुत्री हेमवती सोलह वर्ष की आयु में ही विधवा हो चुकी थी। प्रखर ग्रीष्म ऋतु की एक रात को वह स्नान करने बाहर गयी और

चंद्रमा ने उसको देख लिया। वह नीचे पृथ्वी पर उतर आया और उसके साथ संभोग किया। लड़की इस संगमन के परिणाम से भयभीत हो गयी, परंतु देवता ने भविष्यवाणी की कि उसका पुत्र एक महान् राजा होगा। उसने वाराणसी का त्याग कर दिया और जेजाकभुक्ति में घूमती रही और पुत्र-जन्म की प्रत्याशंसा में उचित ब्राह्मण-संस्कार करती है। प्रथम चंद्रात्रेय राजा चंदवर्मा का जन्म, यथासमय खर्जूरवाहक (खजुराहो) के निकट हुआ, जब चंद्रमा दूसरे देवताओं सहित प्रकट हुआ और उसने एक महोत्सव किया। जब वह युवा वीर सोलह वर्ष का हुआ तो चंद्रमा ने उसका राज्याभिषक कर दिया। वह अपने साथ अन्य देवताओं को लाया जिन्होंने उसको उपायन भी दिये और शिक्षा भी दी। इस प्रकार चंद्रवर्मा को विजय-यात्रा पर भेज दिया जाता है, अपने विजय क्षेत्र का विस्तार करता है और गाहड़वालों को वाराणसी से बाहर भगा देता है। अपनी मां की प्रार्थना पर अपना अवैध रूप में गर्भ में आने के प्रायश्चित के निमित्त वह एक संस्कार करता है और खर्जूरवाहक के पचासी देवालयों का (जिनमें से शेष बच रहे देवालय विश्व के सर्वाधिक मनोज्ञ देवालय हैं) निर्माण, वास्तु-निर्माण के देव विश्वकर्मा की सहायता से दो घंटे से भी कम में कर देता है। इन शद्धिकारी कर्मों के अनुष्ठान के पश्चात् हेमवती स्वर्ग को चली जाती है और चन्द्रवर्मा ने अपने लिए एक राजधानी का निर्माण आरम्भ किया जिसका नाम महोत्सव (हिन्दी महोबा) था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये घटनाएं अथवा उनके ऐतिहासिक आधार नवमी शताब्दी के पूर्वार्ध में अस्तित्व में आये। इसके साथ इतना और बढ़ा देना चाहिए कि चन्द्रात्रेय पुराभिलेख, चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रि ऋषि की आंख से हुई बताते हैं, जो कि पुरोहितों के आत्रेय गोत्र का पूर्वज था। इस प्रकार वंश का नाम द्वयार्थक बन जाता है—एक इनकी उत्पत्ति अत्रि और चन्द्रमा से होने का संकेत देता है और दूसरा इस बात की मान्यता पर बल देता है कि वे एक ब्राह्मण कुल के और साथ ही चन्द्रबंशी हैं। (आरम्भ में वे गुर्जर-प्रतिहारों के सामन्त बने रहे, परन्तु दशमी शताब्दी में यशोवर्मा तथा उसके पुत्र ढंग के उद्योगों के फलस्वरूप स्वतन्त्र हो गये। पुरातन प्रबन्धसंग्रह, 107,3)।

महोत्सवखण्ड का अधिकांश 1182 के युद्ध के विषय में है, जिसमें पृथ्वीराज चाहमान ने महोत्सव नगर पर अधिकार कर लिया (यद्यपि वह चिरकाल तक इसको अपने अधीन न रख सका।) यह युद्ध पृथ्वीराज के एक अभियान के परिणाम में हुआ। जब उसकी सेना का एक भाग चन्द्रात्रेयों के देश में से निकलकर अपने देश को जा रहा था तो रास्ते में परमर्दी के कुछ सैनिकों से झड़प हो गयी। इसके परिणामस्वरूप चाहमान सेना पर, परमर्दी द्वारा किया आक्रमण शौर्य गुणनीति के विरुद्ध समझा जाता है। उसके सेनानी उदयसिंह (ऊदल) ने उस को रोकने का प्रयत्न किया, परन्तु परमर्दी अपनी हठ पर अड़ा रहा क्योंकि उसका

माला उसको उकसा रहा था। यह श्याल एक प्रतिहार राजपुत्र था, जो परमर्दी का सामन्त था, परन्तु उसको किसी अधिक बलवान शत्रु से भिड़ाकर उसका सर्वनाश करना चाहता था। इसके पश्चात् प्रतिहार के षड्यंत्र के चलते रहने पर ऊदल और उसका भ्राता आल्हा जो परमर्दी के सबसे अच्छे सेनानी थे, देश-त्याग के लिए बाध्य हो गये। दुर्बलता के इस अवसर पर, पृथ्वीराज ने जिसको प्रतिहार स्थिति से सूचित करता रहा था, प्रत्यपकार में चन्द्रात्रेयों के विरुद्ध अभियान आरम्भ कर दिया। परमर्दी उसको रोकने में असमर्थ है और पीछे हटता है, परन्तु वह किसी प्रकार अस्थायी सन्धि करने में सफल हो जाता है, जिससे उसको अपने अपरक्त सेनानियों को अपनी सहायता के लिए लौट आने की अभ्यर्थना करने का समय मिल जाता है।

जगनैक राव कवि उसका दूत बनता है। परमर्दी की कृतघ्नता के विषय में उपालंभ देकर अन्त में दोनों भ्राता अपनी माता के यह कहने पर कि अपने स्वामी के प्रति अनुरक्त बने रहना उनका कर्त्तव्य है, अनुनय स्वीकार कर लेते हैं। वे लौट आते हैं और चाहमानों तथा चन्द्रात्रेयों के बीच एक दुर्दम युद्ध आरम्भ हो जाता है और दोनों पक्षों को बहुत भारी हानि होती है। ऊदल तथा अन्य चन्द्रात्रेय नेता मारे जाते हैं तथा पृथ्वीराज का एक पुत्र भी। आल्हा घायल हो जाता है। परमर्दी कालंजर के दुर्ग को भाग जाता है, और विजयी पृथ्वीराज महोत्सव में प्रवेश करता है। तत्पश्चात् पृथ्वीराज कालंजर पर अधिकार करने के लिए अपने एक सेनानी को भेजता है, और परमर्दी बन्दी बना लिया जाता है परन्तु आल्हा का पुत्र इन्दल अकस्मात् ही चाहमानों पर नयी सेना के साथ आक्रमण कर देता है और अपने राजा को मुक्त करवा लेता है। चन्द्र के काव्य के पाठान्तर पृथ्वीराज को महोत्सव पर अधिकार किये रहने देते हैं और यह कहते हैं कि तत्पश्चात् शीघ्र ही वह ग्लानि से मृत्यु को प्राप्त हो गया परन्तु चन्द्रात्रेय पुराभिलेख यह प्रकट करते हैं कि परमर्दी ने अधिक से अधिक दो वर्ष के बीच महोत्सव को पुनः प्राप्त कर लिया था, और उसने बीस वर्ष और राज्य किया। परिणाम में ऊदल तथा आल्हा (और इदल) की वीरता ने अपने राजा तथा उसके राज्य को बचा लिया और संभवतः मूल काव्य वीरता के इस कार्य को श्लाघा में लिखा गया था और यह जेजाकभुक्ति की विजयों (के वर्णन) के साथ समाप्त हुआ।

मौखिक परम्परा ने परमर्दी के दूत जगनैक राव का लिखा एक महाकाव्य जिसका नाम **आल्हारासो** है हिन्दी की उपभाषा बुन्देली में सुरक्षित रखा है। यह भी वही कहानी बताता है परन्तु किंचित भिन्न रूप में, जिसका उद्देश्य स्पष्ट ही जेजाकभुक्ति के दो महावीरों की प्रशंसा करना है। संभवतः इसका स्रोत भी वही मूल है, जिससे चन्द्र के रूपान्तर भी लिये गये हैं, और किसी-किसी बात में इसके अधिक समीप है। यह प्रतिहार राजपुत्र के षड्यन्त्र का वर्णन अधिक विस्तार से

करता है। चाहमानों और चन्द्रात्रेयों में हुए पहले युद्ध को यह (महाकाव्य) उत्तरोक्त की विजय पुकारता है। (इसके अनुसार) आल्हा और ऊदल ने पृथ्वीराज की बड़ी भारी हानि की। परन्तु तत्पश्चात् एक भिन्न हेतु से युद्ध का पुनरारंभ हुआ। चन्द्रात्रेयों ने पृथ्वीराज के राज्य पर परमर्दी के पुत्र के नेतृत्व में आक्रमण किया। इस अभियान में वह स्वयं मारा गया। इसके पश्चात् अनेक अन्य युद्ध होते हैं, और अन्त में ऊदल की मृत्यु के पश्चात् चन्द्रात्रेय पराजित हो जाते हैं तथा महोत्सव का पतन हो जाता है। परमर्दी अनशन द्वारा अपना जीवन समाप्त कर देता है और महोत्सव जेजाकभुक्ति की राजधानी नहीं रह जाता। आल्हारासो, परमर्दी की दुर्बलता और भीरुता का वर्णन महोत्सव खण्ड से कहीं अधिक आग्रहपूर्वक करता है, और यह स्पष्ट है कि इस वीरकाव्य का लक्ष्य उन उदार वीरों की प्रशंसा करना है, जिन्होंने अपना कर्त्तव्य निभाया और एक निकम्मे राजा के लिए अपने जीवन की आहुति दे दी। परमर्दी के चरित्र के इस मूल्यांकन के लिए कुछ ऐतिहासिक आधार हैं, यह बात उसके शासन काल के अन्त के आसपास आक्रमणकारी तुर्कों के विरुद्ध जेजाकभुक्ति के संघर्ष के छुटपुट उपलभ्य वर्णनों द्वारा प्रमाणित होती प्रतीत होती है। उत्तरोक्त स्वयं यह सूचना देते हैं कि वह अधीनता स्वीकार करने के लिए उद्यत था, जबकि कुछ मन्त्रियों ने युद्ध करते रहने का निश्चय कर रखा था, जिस कारण राज्य बचा रह गया। परमर्दी का उत्तराधिकारी त्रैलोक्य वर्मा नितान्त भिन्न सत्व वाला व्यक्ति था और उसने तुर्कों को पराजित करके राज्य को पूर्व स्थिति पर पहुंचा दिया। (हमें कोई ऐसा महाकाव्य उपलभ्य नहीं जो उसकी प्रशंसा में लिखा गया हो। केवल उसके दीर्घ राज्यकाल के अभिलेख ही शेष रह गये हैं उसके निकम्मे पूर्ववर्ती राजा से, का भी उल्लेख किया गया प्रतीत नहीं होता)।

जेजाकभुक्ति में चन्द्रात्रेय शासन सोलहवीं शताब्दी में समाप्त हो गया प्रतीत होता है और उनके पश्चात् बुन्देलों का राज्य हो गया। नैणसी का कथन है कि यह एक सूर्यवंश था जिसके राजा गाहड़वालों के वंशज थे। (I, पृ० 128) वे अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंट गये जिनके राजा प्रायः अपने पड़ोसी कच्छवाहों की भांति मुगलों के सामन्त बन गये प्रतीत होते हैं। बुन्देला इतिहास के विषय पर कुछ एक महाकाव्य एवं जीवन चरित विद्यमान हैं। लाल कवि ने (1657-1707) हिन्दी में (वस्तुतः ब्रज में, जो हिन्दी का प्रधान श्रेण्य रूप है) **छत्रप्रकाश** महाकाव्य पन्ना (खर्जूरवाहक के निकट) के राजा छत्रसाल (1646-1731) के चरित की प्रशंसा में लिखा, जिसने अपने को मुगलों से स्वतन्त्र कर लिया था, और भारतीय पुनरुत्थान के लिए, तथा तुर्क शासन को समाप्त करने के लिए तत्पर हो गया था। महाकाव्य में बुन्देलखण्ड के आरंभिक इतिहास की पर्यालोचना के पश्चात् छत्रसाल और उसके पिता के जीवन का वर्णन विस्तार से किया गया

है। सभासिंह की राजसभा का कवि और भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण शंकर (दीक्षित) था जिसकी मृत्यु 1780 में हुई। उसने चम्पू के रूप में (मिश्रित गद्य और पद्य) वाराणसी के महाराज चेतसिंह (1770-81) का जीवन-चरित्र संस्कृत में लिखा जिसका नाम **चेतोविलास** है। जब शंकर ने लिखा, उस समय वाराणसी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध था और साथ ही धार्मिक दृष्टि से पवित्र नगर जो कि तुर्कों के आतंक और धार्मिक उत्पीड़न से अभी-अभी मुक्त हुआ था। (खेद की बात है कि 1775 में चेतसिंह English East India Company का सामन्त बना, और 1778 में बंगाल के गवर्नर Warren Hastings ने एक विनाशकारी कर उसके ऊपर लाद दिया, और जब इसका भुगतान असंभव था तो राजा को बन्दी बना लिया। चेतसिंह बाहर निकलने में सफल हुआ और राज्य से भाग गया। Hastings के उत्पीड़न करने वाले करग्रहण से राज्य शीघ्र उजड़ गया और कभी उसका पुनरुत्थान नहीं हुआ।)

जेजाक (भुक्ति) की दक्षिण-पूर्वीय सीमा पर एक बाघेला वंश ने सोलहवीं शताब्दी से सद्यभूतकाल पर्यन्त राज्य किया। इनमें से एक राजा की प्रशंसा पद्यनाम के संस्कृत में लिखे **वीरभद्रचम्पू** में की गयी है जो ई० प० 1578 में सम्पूर्ण हुआ था।

अध्याय-15

तीरभुक्ति में इतिहास लेखन

तीरभुक्ति राज्य के अन्तर्गत वही भू-भाग था जो प्राचीन वृजि गणतन्त्र के अधीन था और जो इशु पूर्व पांचवीं शताब्दी से मगध के आनुक्रमिक साम्राज्यों का प्राय: एक भाग रहा है। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर हम इस पर कर्नाटक के एक वंश का शासन पाते हैं जो अनुमानत: अपने उद्‌भव में पालों के सामन्त थे। इसकी स्थापना नान्यदेव ने की थी। वर्तमान नेपाल का एक भाग इस प्रदेश के अन्तर्गत था। जैसे ही पालवंश का ह्रास होने लगा, यह कर्णाटक वंशीय स्वतन्त्र हो गये और तब से 1326 पर्यन्त सब आक्रमणकारियों विशेषत: तुर्कों, से स्वतन्त्र बने रहे। उस वर्ष हरसिंह महमद (तुर्क सुल्तान मुहम्मद तुगलक) के साथ एक लम्बे युद्ध में अपने राज्य के नेपाल के अन्तर्गत भाग में पीछे हट गया जहां उसके वंशजों ने वंश को चलाया। परन्तु तुर्क स्थायी रूप में तीरभुक्ति के किसी भी भाग को अपने अधीन रखने में समर्थ नहीं हो सके। भाग्य के कुछ उतार-चढ़ावों के पश्चात् एक ब्राह्मण कामेश्वर ने एक नये वंश की स्थापना की जो उसके गृह-ग्राम के नाम पर सुगौन कहलाया। हरसिंह को नेपाल में रहने दिया।

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में शिवसिंह सुगौन के राज्यकाल में विद्यापति ने अपनी **पुरुषपरीक्षा** (मनुष्यों की आलोचना) लिखी। यह ऐतिहासिक कथाओं का एक संग्रह है जिसको एक राजकुमारी के लिए पति चुनने के विषय पर एक विवेचन के ढांचे में प्रस्तुत किया गया है। पूर्व **युगों** के वीर पुरुष जैसे कि दानी हरिश्चन्द्र (इक्ष्वाकु) करुणावान शिवि (आनव) **कृत** युग में अथवा वीर अर्जुन और उसका सत्यवादी भ्राता युधिष्ठिर (पौरव) **द्वापर** के अन्त में इसलिए छोड़ दिये गये हैं क्योंकि वे वर्तमान **कलियुग** में अप्रासंगिक हैं। इनके स्थान पर निदर्शनार्थ प्रस्तुत की गयी कहानियां अन्तिम नन्द सम्राट् तक जाती हैं (ई० पू० चतुर्थ शताब्दी) कि उसने किस प्रकार अपना साम्राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथ में खो बैठा। (यह स्पष्ट है कि विद्यापति के मुख्य स्रोतों में से एक विशाखदत्त का

ऐतिहासिक नाटक **मुद्राराक्षस** है, ई० प० 590 के आसपास) मौर्य राजकुमार तथा साहसिक मूलदेव ई० पू० 180 के आसपास) शूद्रक (आभीर ई० पू० तीसरी शताब्दी) विक्रमादित्य (विशेषतः उसके साहस इत्यादि के कारण) तथा भोज (परमार) के विषय में कथाएं हैं। बारहवीं शताब्दी का बंगाल का राजा लक्ष्मणसेन, एक प्रख्यात नायक तथा साहित्य संरक्षक के रूप में प्रकट होता है, परन्तु वह अपनी नौ सेना को गंगा में ऊपर तक गाहड़वालों के विरुद्ध ले जाता है। जयचन्द्र गाहड़वाल का अपनी महिषी के विश्वासघात के कारण सहावदीन के हाथों अपना राज्य खोते हुए का वर्णन किया गया है। एक कथा में जिसमें तीर भुक्ति के नान्यदेव का उल्लेख है, 'जयचन्द्र' को समकालीन दिखाया गया है यद्यपि वह प्रायः एक शताब्दी पीछे हुआ है। संभवतः हमें इसका अर्थ चन्द्र समझना चाहिए जो गाहड़वाल वंश का प्रवर्तक था (ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरकाल) अल्लावदीन से भागकर आये हुए एक व्यक्ति को शरण देने के कारण चाहमान हम्मीर को करुणा का आदर्श दिखाया गया है। विद्यापति के अनुसार यह एक ऐसा कृत्य था जिसके कारण रणस्तम्भपुर का अवरोधन हुआ तथा हम्मीर की मृत्यु।

महाराष्ट्र के रामचन्द्र यादव के साथ सम्बन्ध के प्रसंग में हरसिंह कर्णाट तथा उसके अमात्यों की कथाएं दी गयी हैं। यह स्पष्ट है कि हरसिंह ने तीरभुक्ति के एक महान् राजा, वीर तथा संगीत के रसज्ञ के रूप में उज्ज्वल स्मृति अपने पीछे छोड़ी, यद्यपि महमद के विरुद्ध उसका रक्षण अन्त में पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। महमद के साथ सन्धि हो जाने के पश्चात् कर्णाटक राजकुमार नरसिंह ने उत्तरोक्त की सेवा ग्रहण कर ली जहां पर उसने अपने मित्र चाचिक के साथ जो एक चाहमान राजकुमार था, मंगोलों द्वारा तुर्कों के पराजित किये जाने के पश्चात् अपने स्वामी की रक्षा की। क्योंकि विद्यापति ने स्वयं हमें यह बताया है कि महमद के विरुद्ध मंगोलों का अभियान, उत्तरोक्त के प्रजापीड से प्रोत्साहित हुआ था (जो बात अन्यथा भी सुविज्ञात है) इन भारतीय राजकुमारों की उसके प्रति यह भक्ति अधन्य तथा उन्मार्गप्रवृत्त प्रतीत होती है परन्तु यह सत्य है कि यह सामन्तवाद के भक्ति के आदर्श का उदाहरण है। वस्तुतः विद्यापति की कथा का आशय एक युद्ध की घटनाओं के विषय दो वीरों की सच्चाई दिखाने का था, जिनमें से प्रत्येक ने जितने सन्मान का वह पात्र है उस से अधिक प्राप्त स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

विद्यापति की एक अन्य रचना **कीर्तिलता** इतिहास लेखन के लिए रोचकता-पूर्ण है। यह कीर्तिसिंह सुगौण (चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग) की प्रशंसा में है जो शिवसिंह का पूर्ववर्ती था, जिसने युवावस्था में विद्यापति का संभरण किया था। अपभ्रंश में (लिखा) यह काव्य कठोर विषय के अनुकूल है, तथैव विस्तृत

क्षेत्र में समझा जाने के योग्य है। (यह विद्यापति का कहना है) उसकी **पुरुष परीक्षा** संस्कृत में है, जब कि उसने गीत काव्य की महान राशि की रचना तीरभुक्ति की स्थानीय भाषा मैथिली में की। इस काव्य में तुर्क शासन के अधीन योगिनीपुर (दिल्ली) का वर्णन है, जिसके साथ मुसलमानों द्वारा धर्म के नाम पर किये जाते परिपीडन जिसमें भारतीयों विशेषत: ब्राह्मणों का अपमान तथा घर्षण शामिल थी, तथा देवालयों का विध्वंस और वहां से लिये गये पत्थरों से मसजिदों के निर्माण का वृत्तान्त है। **कीर्तिलता** का विषय कीर्तिसिंह द्वारा अपने पिता गणेश्वर का वैरशोधन करना है, जिसका वध एक मुसलमान ने कर दिया था जिसने तीरभुक्ति के सिंहासन को छीनने का प्रयास किया था।

तीरभुक्ति के एक उत्तरकालीन राजा ताराचन्द्र पर लिखा गया संस्कृत महाकव्य वैद्यनाथ का **ताराचन्द्रोदय** है।

अध्याय-16

नेपाल में इतिहास लेखन

नेपाल तथा तीरभुक्ति के इतिहास का परम्पर सम्बन्ध सदैव घनिष्ठ रहा है, परन्तु नेपाल पर्वतों द्वारा सुरक्षित किए जाने का कारण अधिक विच्छिन्न तथा स्वतन्त्र रहा है। यद्यपि विदेशी आक्रमणों से इसकी सुरक्षा नितान्त परिपूर्ण नहीं रही, तथापि इसने नेपाल को अपने निरन्तर ऐतिहासिक वृत्तान्त को सुरक्षित रखने की क्षमता प्रदान की है, और कश्मीर, केरल, गुर्जर, राजस्थान (विशेषत: मेदपाट), कलिंग, सिंहल इत्यादि की भांति (संभवत: भारत के अधिकतम प्रदेशों की भांति जब उनके वृत्तान्त सुरक्षित रहे हों) पुराणों तथा महाभारत से सम्बद्ध रखा है। नेपाल के मुख्य वृत्तान्त वंशावली कहलाते हैं, जिनका आरंभ देश के उद्भव के साथ ही होता है और ये अनुक्रम से आने वाले वंशों के पुरावृत्त को लिखते रहे हैं और उसको तत्काल तक लाते रहे। उनका अन्तिम स्वरूप दो प्रधान पाठान्तरों में विद्यमान है, एक बौद्ध लेखक रखते थे और दूसरा ब्राह्मण। इनकी तिथियां क्रमश: 1800 तथा 1834 के आसपास आरंभ होती हैं जब वे गोरखाली भाषा में परिवर्तित किए गए। सौभाग्यवश **वंशावली** की दो प्राचीनतर हस्तलिखित पुस्तकें सुरक्षित बच रही हैं, यद्यपि नये पाठान्तरों ने इनका निराकरण कर दिया है। एक (कैसर के पुस्तकालय में) संस्कृत में है जिसकी रचना संभवत: 1350 के आस-पास हुई। दूसरी (**गोपालराज**) तीन भागों में एक मिश्रित रचना है, जिसका कुछ भाग संस्कृत में है और कुछ प्राचीन नेवारी में। स्पष्टरूप से ये 1390 के आस-पास इकठ्ठी कर दी गयीं और संवर्धित की गयीं। ये सब पुस्तकें एक अंश में (विशेषत: आरंभिक अंश में) केवल राजाओं की सूचियां मात्र हैं, और एक अंश में ये विस्तीर्ण पुरा-वृत्त तथा वार्षिक-घटना-वृत्तान्त। अन्य वंशावलियां विद्यमान हैं, और इससे पहले कि इन पुस्तकों की सामग्री पूर्णतया उपलभ्य हो सके, बहुत कार्य करना शेष है (पुरानी पुस्तकों की व्याख्या कठिन है और उनके कुछ अंश नष्ट हो गए प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं ये पाठान्तर एक-दूसरे का प्रतिवाद करते हैं, और दूसरे साक्ष्य, जैसे कि पुराभिलेखों के विरुद्ध हैं) जहां तक

वंशावलियों की वितथता का प्रश्न है, हम यह कह सकते हैं कश्मीर का इतिहास लिखने में कल्हण की भांति, उनके लेखकों ने यह अनुभव किया कि अशुद्ध पौराणिक काल-गणना के साथ उनका सम्बन्ध छोड़ने के लिए उन वंशों को बढ़ा देना आवश्यक है। एक बौद्ध ग्रन्थ, जिसका नाम **स्वयम्भू पुराण** है, जिसकी रचना कम-से-कम उसके वर्तमान रूप में, पन्द्रहवीं शताब्दी में हुई, को एक स्थानीय पुराण मानना चाहिए (कश्मीर के नीलमत की भान्ति), जो देश के उद्भव का विशद वर्णन करता है तथा अन्य पराकथा बताता है, परन्तु इतिहास-लेखन को वस्तुतः कुछ भी नहीं प्रदान करता।

वंशावली तथा **स्वयम्भू पुराण** यह कहानी कहते हैं कि नेपाल की घाटी (कश्मीर की घाटी की भांति) मूल रूप में एक विशाल सरोवर से ढांपी हुई थी (वस्तुतः भूगर्भशास्त्र के अनुसार इसकी पर्याप्त संभावना है) **कृत युग** के आरम्भ में, (बौद्ध) **बोधिसत्त्व** मंजुश्री ने एक कन्दरा का खनन किया और इस सरोवर को जल से रिक्त करके नेपाल की घाटी बना दी। सरोवर के मध्य में एक स्वतः उत्पन्न कमल था, जो वस्तुतः मूल बुद्ध था, (अर्थात्) चरम सत्य (मन्त्रयान बुद्धधर्म में) और यह काष्ट मण्डप (Khathmandu) के निकट स्वयम्भू का पवित्र स्थान बन गया। तब मगध से इस घाटी पर उपनिवेश बनाया गया। प्रथम उपनिवेशी राजा बन गया, और उसके पश्चात् उसके वंशज शासन करते रहे। यह तथा अन्य प्राचीन वंश काल्पनिक प्रतीत होते हैं। **कलियुग** के आरंभ से (जो कि लगभग 900 ई० पू० प्रतीत होगा) एक किरात वंश राज्य करता था। संस्कृत साहित्य में किरात हिमालय-पर्वत (विशेषतः पूर्वी भाग) के निवासियों के रूप में परिचित है। नेपाल के नेवारियों पहचान संभवतः प्राचीन किरात जनों के एक भाग के रूप में की जानी चाहिए। **वंशावली** की पुरा कथा 29 किरात राजाओं की एक सूची के अतिरिक्त और कुछ सूचना नहीं देती और हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं कि इस प्रकार के वंश के लिए ऐतिहासिक आधार कितना था। उनकी राजधानी ललितपुरी (पटन, यंगल) मानी जाती है, जो कि मध्य युग में प्रायः राजधानी रही है, जिस समय यह एक बौद्ध विश्वविद्यालय भी बन गई। चौदहवें किरात राजा स्थुंक के समय में मगध के मौर्य राजा अशोक ने अपनी पुत्री चारुमती के साथ यहां पधार कर, ललितपुरी में चार बौद्ध मन्दिरों का निर्माण करवाया, ऐसी धारणा बनी हुई है।

ईशु पश्चात् पहली कुछ शताब्दियों में नेपाल में लिच्छवियों का राज्य था, जो **वंशावली** के सबसे अधिक विश्वसनीय पाठान्तर के अनुसार किरातों को जीतने के अनन्तर अस्तित्व में आया। यह लिच्छवि-वंश प्राचीन भारतीय अभिजात कुल (क्षत्रिय) सूर्यवंशी नाम से प्रसिद्ध है और वास्तव में नेपाल के अधिकतम वंश जो पीछे से आये, उनकी उत्पत्ति भी उसी सूर्यवंशी तथा अभिजातकुल से मानी जाती

है—एक ही वंश की भिन्न-भिन्न शाखाएं। प्राचीन तथा मध्य-कालीन भारतीय इतिहास में लिच्छवि नाम सुपरिचित तथा अधिकतम विख्यात है। बुद्ध के समय (ई० पू० छठी तथा पांचवीं शताब्दियां) के वृजि गण-तन्त्र के निर्माण के लिए जिन गणों ने संधान किया था उनमें वे सर्वाधिक महत्त्व रखते थे। सिंहल की बौद्ध कथा परम्परा (**महावंश टीका**) के अनुसार मगध का वंश जिसकी स्थापना शिशुनाग ने ई० पू० पांचवीं शताब्दी के अन्त में की थी, लिच्छवि वंश था। ई० प० चतुर्थ शताब्दी में चन्द्रगुप्त प्रथम ने, लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह करके गुप्त साम्राज्य की स्थापना की, और इस प्रकार लिच्छवि राष्ट्र के बल को मगध की शक्ति से संगठित कर दिया, जिस प्रकार पूर्ववर्ती सम्राटों ने वृजि तथा मगध को संगठित किया था। इस बात की अधिक संभावना है कि लिच्छवियों के जिस राजकुल के साथ गुप्तों का विवाह सम्बन्ध हुआ था, वही लिच्छवि कुल था जिसका वृत्तान्त नेपाल के इतिहास में दिया गया है, और जो वृजि या तीरभुक्ति तथा नेपाल पर शासन कर रहा था।

वंशावली की कथा-परम्परा के अनुसार भास्करवर्मा लिच्छवि ने समस्त उत्तर-भारत को स्पष्टतः चन्द्र के समय से कुछ पहले (संभवतः पूरी दो शताब्दियों) (तिथि-गणना में भांति तथा निश्चित समकालीनता के अभाव में यह निश्चित करना कठिन है कि कितना काल पहले) विजित किया, और यह माना जा सकता है कि गुप्त सम्राट ने इस लिच्छवि सम्राज्य का जो कुछ शेष रह गया था, इस विवाह के द्वारा उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया। वंशावलियां कुछ समय के लिए नेपाल पर गुप्त आधिपत्य को स्वीकार करती हैं, परन्तु इस समस्त कालावधि में लिच्छवि राजाओं की एक अविच्छिन्न संतति को प्रदर्शित करती हैं। शिवदेव के राज्यकाल के पश्चात् (जिस ने गुप्त नामान्त वाले कुछ आभीर विजेताओं को परास्त कर दिया था, जो शायद गुप्त सम्राट कुल के राजा थे) तथा शक्तिशाली सामन्त अंशुवर्मा, जिसने उत्तरकाल में नेपाल में एक सूर्यवंशी कुल की स्थापना की, के समय में विक्रमादित्य की नेपाल-विजय का भी उल्लेख है। इस विक्रमादित्य के चन्द्रगुप्त द्वितीय होने की अधिक संभावना है, (यद्यपि इसमें सन्देह किया गया है) विशेषतः इस कारण से, क्योंकि उसके विषय में कहा जाता है कि उसने अपना (विक्रम) सम्वत् नेपाल में जारी किया। इस अशुद्ध परम्परागत विश्वास के साथ सहमत होने के लिए, जिसने उत्तरवर्ती काल में विक्रमादित्य को विक्रम सम्वत् के प्रारंभ में ई० पू० प्रथम शताब्दी में रख दिया, **वंशावली** परम्परा कथा ने अंशुवर्मा के छः उत्तरवर्ती राजाओं में से प्रत्येक को एक शत वर्ष का राज्यकाल दे दिया है। परम्परागत कथाओं में एक न्यायशील तथा सहिष्णु राजा के रूप में अंशुवर्मा की प्रशंसा की गयी है, और उसको दीर्घजीवी राजाओं के वंश का प्रवर्तक माना गया है, जो कि

प्राचीन सूर्यवंशी क्षत्रियों की एक शाखा थी, परन्तु इस वंश के ऐतिहासिक होने में अब सन्देह किया जाता है। जो कुछ भी स्थिति हो, उनके पश्चात् लिच्छवि वंश स्पष्टतया अंशुवर्मा के संरक्षण में रहकर जब उसने नेपाल की स्वतन्त्रता की पुनः स्थापना की थी, पुनः उदित हो जाता है।

वंशावलियां, देश पर भोट प्रभुत्व के कुछ समय का उल्लेख करती हैं, जिसका अन्त रुद्रदेव के भोटों को परास्त करने पर हुआ (शायद 704 में, नेपाल के अभिद्रोह की तिथि जो तिब्बत के इतिहास में लिखित है) राघदेव ने शिव के सम्मान में एक नये नेपाल सम्वत्सर (जिसका आरंभ ई० प० 879 में होता है) की स्थापना की जो तब से प्रायः प्रयोग में लाया जाता है, जिसके कारण, पूर्वकाल की अपेक्षा, जब भिन्न-भिन्न संवत्सरों की विविधता अभिलेखों में भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है, काल-गण का स्पष्टतर चित्र सामने आता है। (यह अभी भी अनिश्चित है कि जिस सम्वत्सर का प्रयोग पूर्वकालीन लिच्छवि करते थे, उसका आरंभ किस तिथि से हुआ) तथापि भ्रान्ति का एक स्रोत अभी भी विद्यमान है। वह यह है कि नेपाल बहुधा एक द्वैराज्य रह चुका है, जब राज्य का शासन विधान राजकुल की दो शाखाओं के पृथक् राजाओं के अधीन दो अर्धभागों में विभक्त हो जाता था। **वंशावलियों** को इस पद्धति का पूरा परिचय है, परन्तु कुछ स्थानों पर वृत्तान्त एक ही समय में शासन करने वालों के बीच भ्रान्ति उत्पन्न होने का विषय बन जाता है, तथा द्वैराज्य और एक-राज्य की कालावधियों के पर्याय से आने के कारण भी भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि **वंशावलियां** बहुधा नेपाल के राजाओं के शान्तिपरक कार्यों का तथैव उनके युद्धों का वर्णन उपस्थित करती हैं, जैसे कि देवालयों तथा राजप्रासादों का निर्माण। यह निर्दिष्ट किया गया है कि शिवदेव (1098-1226) ने मुद्राओं की एक नयी श्रेणी का प्रचलन किया जबकि आनन्ददेव (1147-67) ने एक कुल्या बनवाई तथा भू-क्रय के सम्बन्ध में आर्थिक सुधारों की व्यवस्था की।

बारहवीं शताब्दी के अन्त में यह विस्तृत वंश जो कि लिच्छवि कुल में, न्यूनाधिक क्रमागत रूप में अवरूढ हुआ प्रतीत होता है, विनष्ट हो गया और इसका स्थान एक अन्य वंश ने ले लिया। **वंशावलियों** ने इस बात का कुछ वृत्तान्त सुरक्षित नहीं किया कि वंशपरिवर्तन किस कारण से हुआ। सचमुच ही ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के परिवर्तन उनके लिए रुचिकर नहीं थे। अगला वंश जिसकी स्थापना अरिमल्ल (1200-16) ने की, प्रायः मल्ल वंश के नाम से ख्यात है, क्योंकि इसके राजाओं के नाम मल्ल अन्त वाले हैं। प्राचीन मल्ल जाति के साथ जो कि बुद्ध के समय में वृजि के उत्तर-पश्चिम में स्थापित हो चुकी थी, इनका किसी प्रकार का सम्बन्ध होने का कोई साक्ष्य विद्यमान प्रतीत नहीं होता। **वंशावलियां** इसको एक सूर्य वंश पुकारती है। इस प्रकार, वे संभवतः इसको

शासन करने के योग्य स्वीकार करती हैं। अरिमल्ल के राज्यकाल में एक दुर्भिक्ष का अभिलेख किया गया है। एवं उसके पुत्र अभयमल्ल (1216-55) के राज्यकाल में एक अन्य दुर्भिक्ष का। उत्तरोक्त ने राज्याभिषेक से पूर्व शिवभक्ति पर एक साहित्यिक रचना की थी जो इस समय उपलब्ध है। उसके राज्यकाल के अन्त में (ज्येष्ठ-आषाढ 1255) विध्वंसकारी भूकम्प आया जिसमें, पुरावृत्तों के अनुसार एक तिहाई जनता मृत्यु को प्राप्त हुई। अरिमल्ल के पौत्र के पश्चात् मल्लों की तीन अन्य शाखाओं ने, अनुक्रम से, 1768 में गोर्खों (चित्रकूट के राजपूत जो साधारण दृष्टि से गुहिलपुत्रों के वंशज कहलाते थे) की विजय पर्यन्त शासन किया, परन्तु यह निश्चित नहीं है कि ये सब एक ही परिवार की शाखाएं थीं।

इनमें से अन्तिम ने एक दीर्घ एवं संकीर्ण राजनीतिक विधि से सिंहासन प्राप्त किया जिसका वर्णन **वंशावलियों** में है। राजा जयानन्ददेव (1310-30 के निकट) और जयारिमल्ल (1320-44) एक ज्ञाति जयरुद्रमल्ल के प्रभुत्व के अधीन कठपुतलियां थे। 1326 में उत्तरोक्त की मृत्यु के पश्चात् उसकी पुत्री नायकदेवी प्रभाववती बन गयी। 1335 में उसके प्रथम पति को एक अभिजात ने विष दे दिया, जिस पर 1337 में उसने तीरभुक्ति के हरसिंह के एक पुत्र से विवाह कर लिया। 1347 में अपनी पुत्री राजल्लदेवी के जन्म के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी, और कन्या का लालन-पालन उसकी दादी देवलदेवी ने किया। वह एक चतुर नीतिज्ञ थी, जिसका देश भर में प्रभाव था, और उसने यथाकाल अपनी पौत्री को महिषी बना दिया। नायकदेवी की मृत्यु से पहले, जयारिमल्ल की मृत्यु के पश्चात् उसके षड्यन्त्रों ने खलबली मचा दी थी जिससे उत्तर-पूर्वी भारत के इतिहास में एक संकट के समय, जब तीरभुक्ति भी दुर्बल थी, नेपाल के इतिहास में एक बहुत बड़ी विपत्ति को निमन्त्रण मिला। बंगाल के तुर्क राजा सामसदीन (शमस-उद-दीन) ने नेपाल पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया, इसको लूटा और समस्त देश को जलाकर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, और जनता को दयनीय दशा में छोड़ दिया। इस विध्वंस की परिपूर्णता की पुष्टि इस बात से होती है कि इस घटना से पुराना वहां एक भवन भी नहीं है। इसके पश्चात् हमें देवालयों तथा अन्य भवनों के जो उस समय नष्ट किये गये पुनर्निर्माण के बहुत से अभिलेख मिलते हैं। प्रधानतया काष्ठ-निर्मित नगरों के व्यापक अग्निकाण्ड में नेपाल के पुस्तकालय भारी क्षति से बचे रहे हों यह असम्भव है, और बहुत-सा साहित्य सदा के लिए अवश्य नष्ट हो गया होगा। **वंशावलियां** हमें बताती हैं, कि इस विपत्ति के पश्चात् राजकुल की शाखाओं से अनुनय किया गया कि वे एक राजा (बनाने) के लिए सहमत हो जायें (जयारिमल्ल की मृत्यु से लेकर एक अराजत्व के पश्चात्), जो जयानन्ददेव का पुत्र जयराजदेव (1347-61) था। परन्तु देवलदेवी नेपाल के राजनीतिक क्षेत्र में पहले से ही प्रभावशाली थी और नया राजा अपने राज्य के आरंभ में देवालयों से लूटी गयी सम्पत्ति की

क्षतिपूर्ति के लिए अनुदान देने में उसी के आदर्श का अनुकरण कर रहा था।

उसका उत्तराधिकारी 1361 में उसका पुत्र जयार्जुनदेव हुआ, परन्तु देवलदेवी ने पहले से ही अपनी पौत्री के लिए एक योग्य पति ढूंढ लिया था। यह था जयस्थितिमल्ल नाम का एक व्यक्ति जिसका उद्‌भव तो अप्रसिद्ध था, परन्तु वह महान् सामर्थ्य रखता था। 1366 में देवलदेवी की मृत्यु हो गयी। इस समय तक जयस्थितिमल्ल, परम शक्ति (की प्राप्ति) के मार्ग पर भलीभांति अग्रसर हो चुका था। उसने धीरे-धीरे नेपाल पर अपना नियन्त्रण बढ़ा दिया और 1382 में जयार्जुनदेव की मृत्यु पर उसका एक मात्र शासक बन गया, यद्यपि उसने कभी भी सम्पूर्ण राजोचित उपाधियां धारण नहीं कीं। समासत: देवलदेवी का इस मनुष्य का चुनाव अयुक्त नहीं प्रतीत होता। जयस्थितिमल्ल ने शनैः-शनैः और प्राय: शान्तिपूर्वक अपनी शक्ति का विस्तार किया और स्पष्टतया जयार्जुनदेव को राज्य के आधे भाग पर किसी रोक-टोक के बिना आजीवन राज्य करने दिया। तब नेपाल के अभिजात वर्ग ने उसको एक मात्र वैध राजा विधपूर्वक स्वीकार कर लिया। उसने देश के शासन विधान को सफलतापूर्वक पुन: व्यवस्थित किया, और जैसा कि वंशावलियों में लिखा गया है, रंगमंच का संरक्षक बनकर इसके सांस्कृतिक जीवन को उन्नत किया। परन्तु यह भी देख लेना चाहिए कि मिश्रित **वंशावली** जो 1390 के आसपास लिखी गयी, उसके लिए सूचना का मुख्य स्रोत है, उसी के राज्यकाल की है। इसलिए उस पर यह सन्देह किया जा सकता है कि उसका लक्ष्य राजा के विषय में अनुकूल संस्कार देने का है। जैसा कि भारतीय इतिहास में प्राय: होता है, एक महत्त्वपूर्ण अवसर पर एक ऐतिहासिक पुस्तक, राजाओं के अनुक्रम में एक नियम-भंग को उचित सिद्ध करने के लिए लिख डाली जाती है। जब घटनाएं शान्तिपूर्वक और नियमानुसार घटती चली जाती हैं तो इतिहास में रुचि घट जाती है, और उस समय को भूल जाने की प्रवृत्ति होती है, और कोई विवादास्पद वृत्तान्त आने वाली पीढ़ियों की विवेचना के लिए पीछे नहीं छोड़े जाते।

उत्तरकालीन वंशावलियां जयस्थितिमल्ल के वंश को हरसिंह के कर्णाटक वंश की संतति मानती हैं, और उत्तरोक्त को भी पहले से ही नेपाल घाटी का राजा मानते हैं (जो वह नहीं था) उसके उत्तराधिकारियों में उसका पौत्र जययक्षमल्ल, (1428-80) संभवत: सबसे अधिक उल्लेखनीय है, जिसने परम्परागत रीति के अनुसार विजय-यात्रा का आरंभ किया और भिन्न-भिन्न पर्वतीय राज्यों तथा तीरभुक्ति को अधीन किया। वह एक महान् निर्माता भी था। जगज्ज्योतिमल्ल (सत्रहवीं शताब्दी) की **नरपतिजयचर्याटीका** में जययक्षमल्ल का जीवन चरित है। अठारहवीं शताब्दी के पश्चात् **गोरख वंशावली** तथा अन्य पुस्तकों में इतिहास चलता रहता है।

हिमालय प्रदेश के इतिहास को छोड़ने से पहले, इस ओर ध्यान दे देना चाहिए कि उसी पर्वत की घाटियों में अनेक छोटे-छोटे राज्यों की अपनी-अपनी **वंशावलियां** हैं जिनमें प्राचीन काल से उनके राजाओं के वंश-वृक्ष सुरक्षित हैं। उदाहरणत: पंजाब की इरावती तथा विपाशा नदियों की उपरितन घाटियों में, चम्पा, नूरपुर, त्रिगर्त (कांगडा), मण्डी और कुलूत ने अपने-अपने इतिहास को सुरक्षित रखा है।

अध्याय-17

कामरूप (अस्सम) में इतिहास लेखन

अपने **हर्षचरित** के सातवें उच्छ्‌वास में, कामरूप (अस्सम) के राजा तथा हर्ष के मित्र भास्कर वर्मा के पूर्वजों का वर्णन करता है। यह राजा अपना उदभव असुर नरक से मानता है जो वराह अवतार में विष्णु तथा पृथ्वी जिसका उसने त्राण किया था, के संयोग से उत्पन्न हुआ था। इस देश के उत्तरकालीन इतिहास के लिए हमारे पास **बुरञ्जियां** (वंशावलियां) हैं जो आहोम (जहां से आसाम, आस्साम बने हैं) राजाओं के राज्यकाल में बनाई गयीं, जिन्होंने तेरहवीं शताब्दी से आगे अपनी शक्ति का विस्तार किया। ये गद्य घटना-वृत्तान्तों की एक शृंखला हैं (150 से अधिक विद्यमान हैं) जो अधिकतर सतरहवीं शताब्दी तथा उसके पश्चात् लिखी गयीं। ये भारतीय परम्परा-कथा से सम्बद्ध हैं और प्राचीन इतिहास के वृत्तान्त जो कामरूप को पुराणों की प्राचीनता से जोड़ते हैं, इनमें समाविष्ट हैं। इनके इतिहास का आरम्भ ब्रह्मा के पुत्र महिरंग से होता है, जिसके वंश को नरक ने विस्थापित किया, जिसका वध करके कृष्ण ने भगदत्त को पौरव सम्राट् युधिष्ठिर के समकालीन की स्थिति में राजसिंहासन पर बिठाया। माधव वंश का एक उत्तरकालीन राजा विक्रमादित्य से पराजित हुआ। तत्पश्चात् माधवों को जितारि ने विस्थापित किया जिसके वंशज परस्पर फूट पड़ने के समय तक शासन करते हैं, जिसके कारण आहोम-विजय संभव हुई। आहोमों का उद्भव थाई जाति से हुआ। भारत में प्रवेश करने के पश्चात् वे ब्राह्मण संस्कृति के उत्तरोत्तर प्रभाव में आते गये और शनैः-शनै (भारतीय समाज में) घुल-मिल गये। इस प्रकार सुदांगफा (शासन काल 1397-1407) को ब्राह्मण राजा कहा जाता है क्योंकि उसका जन्म एक ब्राह्मण के घर में हुआ था। सुहुंगमुंग (1497-1539) ने संस्कृत नाम स्वर्गनारायण ग्रहण किया। उत्तरोक्त का शासन काल कामरूप में सर्वाधिक महत्त्ववाले राज्यकालों में है क्योंकि उसने राज्य का विस्तार तथा संगठन किया और बंगाल से तुर्कों के आक्रमणों की एक शृंखला का भूमि पर तथा नदियों पर नाविक अभियानों में सफलतापूर्वक विरोध किया। **बुरञ्ज्यां**

इन युद्धों के विषय में (1527-33) रोचक विस्तृत वर्णन उपस्थित करती हैं।

1662-82 में कामरूप और मुगलों के बीच एक संग्राम हुआ। आक्रमणों की एक शृंखला तथा संकट के एक समय जिसमें असमियों में आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गयी थी, के पश्चात् गदाधरमल्ल अपनी पुरानी सीमाओं को फिर से स्थापित करने में सफल हो गया। गदाधर के पुत्र रुद्रसिंह (1696-1714) ने अपने राज्य की शक्ति को बढ़ाया और जैसे ही तुर्क साम्राज्य का ह्रास हुआ तब उसने राजपूत राजाओं के नेतृत्व का पद प्राप्त करना चाहा, जिससे कि वह तुर्क शासन को समाप्त करके अपने आपको दिल्ली में भारत सम्राट् के पद पर प्रतिष्ठित कर सके। रुद्रसिंह ने मित्र संग्रह तथा सूचना की प्राप्ति के लिए भारत के भिन्न-भिन्न देशों में अपने दूत तथा गुप्तचर भेजे। तब 1714 के शीतकाल में दिल्ली पर अभियान के लिए प्रयत्नशील हुआ। दुर्भाग्यवश उसी वर्ष सितम्बर में उसकी मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी शिवसिंह एक शैव गुह्योपासक था और उसने कर्म-काण्ड सम्बन्धी अनुष्ठानों के लिए इन योजनाओं का परित्याग कर दिया और राज्य का कार्यभार अपनी अनुपूर्व महिषियों पर छोड़ दिया।

बुरंजियां असंख्य विशाल तथा बहुत वितृत हैं। संगृहीत रूप में वे कामरूप अथवा अस्सम का उन्नीसवीं शताब्दी तक का इतिहास विस्तृत रूप में उपस्थित करती है। उनके हित उनके अपने देश से बहुत दूर तक आगे पहुंच गये थे और इसकी सामनीति समस्त भारत के कार्यकलाप में गवेषणा करने की प्रेरणा देती थी। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी में दिल्ली के तुर्क राजाओं पर एक बुरंजी लिखी गयी जिसका आरम्भ पृथ्वीराज चाहमान की मृत्यु से होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि **बुरंजियों** के लेखक, उदाहरण के लिए श्रीनाथ (जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा) अपनी रचनाओं को **वंशावलियां** ही मानते हैं और इनकी ओर संकेत करने में संस्कृत की यही परिभाषा प्रयोग में लाते हैं। स्पष्ट रूप में इतिहास-लेखन के प्रति (यह प्रवृत्ति) जिसकी आलोचना हम करते आ रहे हैं, सामान्य भारतीय दृष्टिकोण का विस्तार ही है। परन्तु वस्तुतः जो कुछ भी हम अभी तक देख आए हैं उससे अधिक विस्तृत तथा विशुद्ध हैं और तथ्यों के वृत्तान्त पर ही, उसके अपने महत्त्व के कारण, ध्यान केन्द्रित करते हैं और इनका लक्ष्य न तो कृति का सौन्दर्य निरीक्षण होता है और न ही नैतिक प्रतिपत्ति। यह महत्त्वपूर्ण है कि श्रीनाथ, अपनी लिखी, स्वर्गवंश (गदाधरसिंह तथा उसके वंशज जो उन्नीसवीं शताब्दी पर्यन्त राज्य करते रहे) की **बुरंजी** को राज्य का, जिसमें वह स्वयं एक मन्त्री था, जब उसने यह लिखी थी, एक गोपनीय लेख्य समझता था।

गोपनीय अभिलेख संग्रह उसकी पहुंच में थे और उसने उनका पूर्ण प्रयोग किया। इसके परिणामस्वरूप उसने विशेषाधिकार वाले अपने पाठकों को उस संशय से सावधान किया जो उसकी रचना के अविश्वसनीय पाठकों के हाथ में पड़ने से राष्ट्र को हो सकता था। वह अपनी पुस्तक को **शास्त्र** भी कहता है अर्थात् एक विद्वत्तापूर्ण रचना, जो एक **काव्य** अथवा साहित्यिक कृति नहीं।

अध्याय-18

सिंहल में मध्यकालीन इतिहास लेखन

सिंहल के समृद्ध इतिहास लेखन का उल्लेख पहले किया जा चुका है, जहां हमने ई० पू० चतुर्थ शताब्दी पर्यन्त इसका वृत्तान्त दिया है। हमने इस बात की विवेचना भी की है कि किस प्रकार इतिहास से हटकर हम आख्यानों पर पहुंच जाते हैं अथवा प्राथमिक इतिहास से द्वितीय श्रेणी के इतिहास की ओर। इसमें इतिहास को साहित्य का रूप देना भी शामिल है (कलात्मक साहित्य-काव्य)। यह ब्राह्मण तथैव बौद्ध रचनाओं में पाया जाता है। महानामा का **महावंश** (महान् इतिहास) जो छठी शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया था, सिंहल में इस प्रकार के काव्य-इतिहास का श्रीगणेश करता है। इसका आधार **दीपवंश** है और यह द्वीप के प्राचीन इतिहास का पुनर्वर्णन है और साथ ही साथ एक सुसंस्कृत तथा काव्यमय शैली में लिखे जाने के कारण वृत्तान्त को सुगम बना देता है। मूल ग्रन्थ में जो असंगतियां हैं उनको दूर करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः मूल एक मिश्रित रचना है जो कि भिन्न-भिन्न कालों में लेखकों की एक शृंखला द्वारा लिखी गयी। अपने इतिहास को एक अधिक कलात्मक रूप देने के लिए तथैव निस्संदेह आध्यात्मिक उन्नति के लिए इसको अधिक लाभदायक बनाने के लिए महानामा ने दो सिंहली महान् राजाओं के व्यक्तित्व को ऊंचा उठा दिया है जो सिंहल में बुद्ध धर्म को लाने और दृढ़ रूप में प्रतिष्ठित करने में सर्वप्रथम सहायक हुए। ऐतिहासिक वृत्तान्तों तथा तथ्यों के निरन्तर प्रवाह के स्थान पर वह इस प्रकार एक महाकाव्य की रचना करता है जिसमें (दो) नायकों के अवदानों की प्रशंसा की गयी है—देवानं पिय तिस्स (ई० पू० तृतीय शताब्दी) और दठ्ठगामणी (ई० पू० प्रथम शताब्दी) उत्तरोक्त को सिंहल में राष्ट्रीय नायक माना जाता है, जिसने अपने देश को तमिल शासन से मुक्ति दिलाई। आरम्भ में महानामा बता देता है कि उसका लक्ष्य (बुद्ध धर्म में) विश्वास की प्रेरणा देना तथा अपने श्रोताओं में जागृति उत्पन्न करना है (सब पदार्थों की अनित्यता की दृष्टि) दूसरे शब्दों में नीति-विषयक।

उत्तरवर्ती शताब्दियों में महानामा के महाकाव्य के साथ परिशिष्ट जोड़े गये जिससे यह सिंहल का प्रवर्तनशील इतिहास बन सके और अद्यपर्यन्त हो। इनमें प्रथम तथा सबसे लम्बे (परिशिष्ट) में, जिसको तेरहवीं शताब्दी में धम्मकित्ति ने लिखा, राजा परक्कमबाहु प्रथम को (बारहवीं शताब्दी) विशेष और विस्तृत वर्णन के लिए राष्ट्रीय-नायक के रूप में चुना गया। यह सत्य है कि सिंहल के इतिहास में इस राजा का राज्यकाल बड़े महत्त्व का था क्योंकि फूट के एक दीर्घ काल के पश्चात् देश पुनः संगठित हो गया था। बौद्ध संघों की फिर से व्यवस्था की गयी तथा भवन-निर्माण और लोक-कल्याण के निर्माण-कार्यों का एक वृहद कार्यक्रम रचा गया जिसमें देश की आर्थिक स्थिति को पुनः स्थापित करना भी सम्मिलित था (विशेषतः सिंचाई की योजनाएं)। साथ ही धम्मकित्ति के भरसक प्रयत्न करने पर भी, राजा स्वयं किंचिन्मात्र भी एक वीर्यवान और श्लाघनीय व्यक्ति प्रतीत नहीं होता, अपितु वह एक कठपुतली दिखाई पड़ता है जिसको घटनाएं साथ बहाए लिये जा रही हैं और अपने समय की उपलब्धियों का वह एक चिह्न मात्र है, उनको दिशा का निर्देश देने वाला कारण नहीं। इस ग्रन्थ के सतर्क अध्ययन से ऐसा संस्कार रह जाता है क्योंकि परक्कमबाहु के शौर्य के कार्यों की कहानियों जैसे वर्णन उसके सामान्य चरित्र का विरोध करते प्रतीत होते हैं और घटनाओं का क्रम उनको सत्य नहीं सिद्ध करता। यद्यपि विस्तार विशाल मात्रा में किया गया है, परन्तु युद्ध यात्राओं के वर्णन संतोषजनक नहीं किये गये और हमें यह अनुमान करना पड़ता है कि और भी बहुत-सी घटनाएं घटी होंगी, उदाहरणार्थ संदिग्ध विजयों के बीच-बीच पराजयें, और सिंहल में विविध प्रभावशाली व्यक्तियों के मध्य में षड्यन्त्र तथा राजनीतिक गठजोड़, जो परमोच्च शक्ति की प्राप्ति की ओर नायक की टेढ़ी-मेढ़ी प्रगति का कारण बता सकें।

हम यह वितर्क करते ही रह जाते हैं कि सिंहल के पुनः संगठन तथा नयी व्यवस्था के निर्माण में किसने वस्तुतः कठोरता तथा कुशलता से घटनाओं का क्रम बांधा। संभवतः बौद्ध भिक्षुओं का एक संघ परोक्ष में (कार्य कर रहा) था और बौद्ध इतिहासकार ने उनके राजनीतिक उद्योगों को प्रकट करना उचित नहीं समझा। यह सब कुछ विचार कर लेने पर भी, यह संभावना हो सकती है कि स्वयं पक्कमबाहु का मन, पुरानी शैली के एक काव्य-नायक के प्रथानुसारी शारीरिक नेतृत्व के स्थान पर, कार्यवाहकों के जाल-कर्म द्वारा कार्य सम्पन्न करवा रहा था। प्रतीत होता है कि सत्य रूप में ही, जिस विधि से घटनाएं सचमुच घटीं और जिस प्रकार इतिहास के ग्रन्थों में उनका घटित होना माना जाता है, इन दोनों के परस्पर विरोध के कारण इतिहासकार चकित रह गया होगा। इन दोनों के समाधान के लिए वह यथार्थ रूप से प्रयत्नशील प्रतीत होता है, जब वह तथ्यों के वृत्तान्त को भी सुरक्षित करना चाहता है। (जो कि राज सभा में

रखे जाने वाले घटना-वृत्तान्त होंगे)। यद्यपि धम्मकित्ति का घटना-वृत्तान्त, इतिहास के एक संकट के समय के प्रयत्न से लिखे गये वर्णन के साथ, जिसमें उसके ग्रन्थ का एक तिहाई भाग सम्मिलित है, प्रकाष्ठा पर पहुंच जाता है (और समाप्त हो जाता है) वह महानामा द्वारा वर्णित किये गये काल के अन्त से, बीच में आने वाली घटनाओं का वर्णन विस्तार की पर्याप्त मात्रा में (लगभग 25 सर्गों में) करता है। उदाहरण के लिए सिंचाई के साधनों के प्रति विशेष ध्यान देकर, तथैव राजाओं के अन्य पुण्य कार्यों के प्रति भी। परन्तु जिस विषय में उसको प्रबल रुचि है वह बुद्ध-धर्म का इतिहास है और जो पुण्य और पाप कर्मों के लिये मान-दण्ड उपस्थित करता है।

महावंश के परिशिष्ट जिनका आरम्भ धम्मकित्ति (की रचना) से होता है प्रायः **चूलवंश** (छोटा इतिहास) कहलाते हैं। उनमें से दूसरा, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है, वर्णन को जिसमें परकम्मबाहु द्वितीय (तेरहवीं शताब्दी) आधुनिक प्रधान नायक है, चौदहवीं शताब्दी में ले जाता है। इससे आगे के अनुबंध जो काल तक पहुंचते हैं सुमंगल (अठारहवीं शताब्दी) तथा उत्तरवर्ती भिक्षुओं द्वारा लिखे गये हैं। इनमें से प्रथम में प्रभावशाली व्यक्ति कित्तिसिरिराजसीह (अठारहवीं शताब्दी) है, जो कि सिंहल का अन्तिम महान् राजा है।

बुद्ध-धर्म के इतिहास की घटनाओं अथवा विशेष प्रकरणों पर सहायक **वंशों** की कुछ संख्या विद्यमान है। महानामा के **महावंश** पर एक विशाल टीका **वंसत्थपकासिनी** (दशम शताब्दी-लेखक अज्ञात) कहीं अधिक महत्त्व की है जो भारत तथा सिंहल दोनों के इतिहास की अधिक विस्तृत (सूचना) उपस्थित करती है। गद्य कथाओं के संग्रह भी कुछ संख्या में हैं जिनके प्रकरण आंशिक रूप में ऐतिहासिक हैं, जैसे धम्मनन्दी का **सीहलवत्थुप्पकरण** और रठ्ठपाल का **सहस्सवत्थुप्पकरण**। महामंगल की बुद्धघोसुप्पत्ति (चौदहवीं शताब्दी) प्रख्यात विद्वान बुद्धघोष का जीवन चरित है। ये सब ग्रन्थ पाली में हैं। इतिहास-लेखन की पाली परम्परा दक्षिण-पूर्व एशिया में भी फैल गयी, जहां पर स्थानीय तथा सामान्य दोनों प्रकार के इतिहास ग्रन्थ लिखे गये जो कभी-कभी भारत तथा सिंहल के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

सिंहली भाषा में ऐतिहासिक ग्रन्थों की एक बहुत बड़ी संख्या है जिनमें अधिकतम चौदहवीं शताब्दी तथा आगे आने वाले समय में लिखे गये। (सिंहली भाषा के पुरातन ग्रन्थों के स्थान पर नियमबद्ध रूप से पाली ग्रन्थों की रचना की गयी।) प्राचीनतर समय के लिए वे केवल कुछ विस्तार पाली इतिहासों में जोड़ देते हैं, परन्तु तेरहवीं शताब्दी से आगे के समय के लिए वे प्राथमिक स्रोत

हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बुद्ध पुत्र का **पूजावलिय** (तेरहवीं शताब्दी) अज्ञात लेखकों के विविध **राजावलिय** और देवरक्षित का **निकायसंग्रह** (चौदहवीं शताब्दी, लेखक को धर्मकीर्त भी कहा जाता है) पोल्वत्ते के **महाराजावलिय** में, जो 1872 में सम्पूर्ण हुआ, डच तथा ब्रिटिश उपनिवेश काल के वर्णन हैं।

अध्याय-19

तमिलनाडु में इतिहास लेखन

भारत के सुदूर-दक्षिण का ऐतिहासिक साहित्य समृद्ध है, परन्तु अपने परिवेषण तथा गुणों में विषम है। इसका अधिकतम भाग पद्य में है, परन्तु उस भाग की जो, तमिल भाषा में है, मान्यताएं तथा परम्पराएं, सामान्य भारतीय **काव्य** की जो प्राथमिकतया संस्कृत में है और जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, मान्यताओं और परम्पराओं से भिन्न है। तमिल में ऐतिहासिक सामग्री-युक्त, प्राचीनतम उपलभ्य साहित्य, **एट्टुत्तोगै** के (प्रधानतया शृंगार और वीर रस की कविताओं के आठ संग्रहों) के कुछ भागों पाया जाता है। इन आठों में से पुरणाणूरु (संभवतः ई० प० दूसरी शताब्दी) और **पदिर्रुप्पत्तु** (अधिकांश में ई० प० द्वितीय शताब्दी, कुछ उत्तरकालीन अधिक सामग्री सहित) राजाओं तथा युद्ध के विषयों पर लिखे गये हैं और कविता के रूप में पर्याप्त ऐतिहासिक सूचना प्रदान करते हैं। पुरणाणूरु भारत के दक्षिणतम भाग के पाण्ड्य राजाओं (राजधानी प्रायशः मदुराय) का और उनके उत्तर-पूर्व के प्रदेश में चोल राआओं (मुख्य राजधानियां, पुहार या कावेरीपत्तन तथा उरैयूर अथवा उरगपुर) का विशेषतः वर्णन करता है। पदिर्रुप्पत्तु पश्चिमी समुद्रतट पर, वंची तथा तोण्डी से शासन करने वाले चेर (केरल) राजाओं के दो प्रधान कुलों के प्रवर्तमान वंशानुचरित के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है। अन्य संग्रहों में भी ऐतिहासिक महत्त्व के बिखरे हुए उल्लेख विद्यमान हैं। ये सारी कविताएं (इनके भिन्न-भिन्न असंख्य लेखक हैं जिनके नाम लिखने की आवश्यकता नहीं) उन राजाओं के समकालीन प्रतीत होते हैं, जिनके चरितों की वे श्लाघा करते हैं। वस्तुतः यह राजसभा के कवियों की रचना है और इसी कारण कवियों की स्वाभाविक अतिशयोक्ति के प्रति सावधान रहकर विश्वास के योग्य है।

सबसे अधिक विख्यात पाण्डय राजा, जिसकी प्रशंसा उसकी वीरता के लिए अनेक कविताओं में की गयी है, नेडुंजेलियन है (संभवतः ई० प० 200 के आस-पास) जबकि उसका दूर का एक पूर्वज मुदुकुडुमि अनेक यज्ञों का कर्त्ता था।

प्राचीन तमिल राजाओं में जिनका हमको ज्ञान है, राजा करिकलन (ई० प० द्वितीय शताब्दी) सबसे महान् प्रतीत होता है। वह कावेरीपत्तन में राज्य करता था और उसने अनुपातत: एक विस्तृत राज्य पर विजय प्राप्त की। सिंहल के समकालीन राजा (गजबाहु) से उसका सम्पर्क, यद्यपि इसका उल्लेख केवल एक उत्तरकालीन तमिल ग्रन्थ (शिलप्पदिकारम्) में हुआ है, एक समकालीनता प्रस्तुत करता है, जिससे पूर्वकालीन सिंहलीय काल-गणना (जो केवल कुछ राजाओं के राज्यकालों की अवधियां उपस्थित करती है) का सम्बन्ध शेष भारत की काल-गणना के साथ जोड़ा जा सकता है। उसके पश्चात् चोल राज्य का विभाजन हो गया और हम नलंगिल्लि को उरगपुर में शासन करते तथा अपने प्रतिद्वन्द्वियों के साथ गृह-युद्ध में व्यस्त पाते हैं। परन्तु अपनी दानशीलता के कारण वह कवियों में बहुत लोकप्रियता का पात्र था। प्रत्युपकार में वे सब तमिलों पर उसके आधिपत्य का समर्थन करने में अत्यन्त प्रयत्नशील थे। राजा स्वयं एक महान् कवि था जिस प्रकार इस समय के कुछ अन्य तमिल राजा भी थे। केरल में चेर राजाओं के बीच शेंगुट्टुवन का वर्णन अवश्य करना पड़ेगा, यद्यपि समकालीन स्रोत में दूसरे राजाओं से अधिक प्रसिद्धि उसको प्राप्त नहीं हुई। वह केवल स्थल और जल पर युद्ध में इसकी सफलता का वर्णन करता है। उसने ई० प० द्वितीय शताब्दी में राज्य किया। वह उन राजाओं के वंश में से एक था जिनकी राजधानी तोण्डि थी। दूसरे वंश में, जो स्पष्टतया वंचि (और/या करुवूर) ई० प० द्वितीय शताब्दी से कुछ पहले शेल्वक्कडुंगों वालि आदन से हमारी भेंट होती है, जिसने कवियों के प्रति दानशीलता के कारण बहुत प्रशंसा प्राप्त की। परन्तु यह विशेष-घटनाओं के उल्लेखों की अपेक्षा उसकी जीवन-चर्या के सामान्य वर्णनों के रूप में अधिक मात्रा में थी।

सम्भवत: ई० प० द्वितीय शताब्दी के आस-पास ही **पत्तुप्पाट्टु** (ग्राम्य जीवन की दस झांकियां) है जो तमिल कविता का एक अन्य संग्रह है जिसके कुछ भाग इन्हीं राजाओं से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे पट्टिनप्पालै (दस में से एक) हमें करिकालन के चरितों का अद्भुत वर्णन मिलता है, विशेषत: उसके आर्थिक कार्यों का।

कुछ पीछे का एक संग्रह, जो उन रचनाओं के समय से, जिनका वर्णन अभी हुआ है, नवमी शताब्दी के आस-पास तक का है, **पतिनेण्कील्कणक्कु** (अठारह छोटी-छोटी रचनाएं) (उनमें से कुछ वस्तुत: बड़ी) है। इनमें से एक, पोय्गैयार की **कलवलि** चोल राजा को च्चेन्गणान (अथवा शेन्गणान) पर एक कविता है, जिसमें एक चेर राजा के साथ युद्ध का वर्णन है। इस घटना की तथा इस कवि की जो समकालीन प्रतीत होता है, तिथि निश्चित नहीं की गयी। अत्युत्तम अनुमान तीसरी शताब्दी प्रतीत होता है (चतुर्थ शताब्दी में किसी समय तक चोल राज्य

की कलभ्रवंश ने पाण्ड्य और चेर के साथ ही जीत लिया था और तमिल देश का प्राचीन इतिहास समाप्त कर दिया था)। उत्तर काल में तमिल देश का प्राचीन इतिहास पौराणिक कथाओं और प्राचीन आख्यानों में परिवर्तित हो गया था। सबसे पुरातन उपलभ्य ग्रंथ जिसमें इस पूर्वकालीन (इतिहास) के व्यवस्थित रूप का उल्लेख किया गया है। इडैयनार की **अहप्पोरुल** पर नक्कीरर् (आठवीं शताब्दी या इससे पीछे) का भाष्य प्रतीत होता है। यहां पर राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा साहित्य का इतिहास अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसके फलस्वरूप समस्त प्राचीन-काल तीन विशिष्ट कालों में विभक्त कर दिया गया है जिनको संगम (विद्वत्परिषद्) कहते हैं। इसका कारण यह है कि विद्वानों तथा कवियों की क्रमागत तीन परिषदें तीन भिन्न-भिन्न नगरों में विद्यमान थीं। वे राजा जो सब पाण्ड्य वंश के थे और जो इन पार्षदों का संरक्षण करते थे, उनके नाम भी अभिलिखित हैं। तीनों संगम अनुमानतः कुल मिलाकर प्रायः दस सहस्र वर्ष पर्यन्त विद्यमान रही मानी जाती हैं। प्रथम दो नगर बारी-बारी से समुद्र में डूब गये थे, ऐसा अनुमान किया जाता है जबकि तीसरी परिषद् पाण्ड्यों की ऐतिहासिक राजधानी समुदाय में स्थापित की गयी। इन परिषदों में रचित श्रेण्य साहित्यिक ग्रंथों की सूचियां दी गयी हैं। इस श्रेण्य साहित्यिक रचनाओं में से तमिल का एक व्याकरण बचा रह गया है जिसके विषय में यह अनुमान किया जाता है कि वह द्वितीय परिषद् से आया है, अन्यथा वर्तमान साहित्य में केवल तृतीय परिषद् ही प्रतिनिधित्व प्राप्त करती है, क्योंकि अधिकतम **एट्टुत्तोगै** (जिनमें **पदिर्रुप्पत्तु** भी शामिल है) इसी से सम्बद्ध कर दी जाती है। प्रथम परिषद् का प्रधान अगस्त्य ऋषि को माना जाता है और इस प्रकार इस समस्त पुराख्यान का सम्बन्ध उत्तर भारत के ब्राह्मणों की परम्परागत कथाओं के साथ जोड़ दिया जाता है। अगस्त्य के मलय पर्वत पर निवास करने के विषय में **पौराणिक** उल्लेख हैं (भारत की पर्वत-माला जो नितान्त दक्षिण में है) (देखिए, Pargiter, Ancient Indian Historical Trasition P. 140) इस पुराख्यान में से हम यह संस्कार लेकर रख सकते हैं कि प्राचीन तमिल देश का सबसे महान सांस्कृतिक केन्द्र मदुराय था और यह कि तृतीय संगम द्वितीय शताब्दी ई० पू० के आस-पास वहां के साहित्यिक कार्य-कलाप को प्रतिबिम्बित करता है और उसमें उसी समय के दूसरे नगरों के कार्य-कलाप को भी सम्मिलित कर देता है तथा यह कि संस्कृति के एक महान् उदय के प्राक्तर कालों की धुंधली कथाएं थीं, जिनका साहित्य बहुत थोड़ा रह गया था और जो भारत के सांस्कृतिक संगठन के समय **पुराणों** के सार्वभौमिक इतिहास पर आरोपित कर दिया गया था। यह जोड़ देना शेष है कि शिलप्पदिकारं के अनुसार पाण्ड्य एक चन्द्र वंश थे। इस परम्परा को **पद्म पुराण** ने भी मान्यता प्रदान की है, जिससे वे तुर्वसु सिद्ध होते हैं, जैसा कि हमने ऊपर देखा था।

शिलप्पदिकारं तमिल साहित्य के 'पांच महान महाकाव्यों' में से एक है (पेरुकाप्पियं—महाकाव्य) जिनके विषय में यह अनुमान किया जाता है कि उनकी रचना तृतीय संगम के समय में हुई, परन्तु जो संभवतः पीछे की शताब्दियों के थे, अर्थात् कलभ्र-काल। वह काल बुद्ध धर्म तथा पर्याप्त सीमा तक जैन, आजीवक तथा लोकायत धर्मों के उत्कर्ष का था। इसी कारण उत्तरकालीन 'हिन्दू' लेखक इसको अप्रसन्नता की दृष्टि से देखते थे क्योंकि वे इसको वैधर्मिक समझते थे तथा उन नवोदितों का शासन-काल जिन्होंने तमिल देश के अभिजात कुलों का पद छीन लिया था। **शिलप्पदिकारं** संभवतः एक जैन का लिखा हुआ है और देदीप्यमान रूप में उदार तथा सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण का परिचय देता है। इसका उत्तर भाग, **मणिमे कलै** जो प्रधान महाकाव्यों में से एक और है, जो एक बौद्ध लेखक की लिखी हुई है, इसी प्रकार की सहिष्णुता प्रदर्शित करती है यद्यपि यह बौद्ध दर्शन को उच्चतम स्थान पर रखती है। ये महाकाव्य तथा 'पांच सामान्य महाकाव्य' जो इसी समय के हैं, वस्तुतः उपन्यास हैं यद्यपि ये प्राचीन इतिहास में आरोपित कर दिये गये हैं और प्राचीन तमिल संग्रहों की भांति जिनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है, इनको समकालीन अभिलेखों की भांति ही प्रस्तुत किया गया है। **शिलप्पदिकारं** को द्वितीय शताब्दी में केरल के राजा शेंगुट्टुवन के भ्राता इलंगो का लिखा हुआ समझा जाता है। अपनी पृष्ठभूमि के रूप में यह उस राजा को एक महान वीर की भूमिका प्रदान करता है, परन्तु उसी प्रकार करिकालन चोल की सैनिक प्रतिभा की भी प्रशंसा करता है। (इसकी वास्तविक कथा व्यक्तिगत जीवन की है, परन्तु स्पष्ट रूप में एक प्राचीन पुराकथा से विकसित की गयी है।) **मणिमेकलै** का कर्ता शात्तन, मदुराय का एक व्यापारी तथा इलंगो का एक मित्र तथा समकालीन समझा जाता है, परन्तु यह स्पष्टतया असंभव है, क्योंकि वह अपनी नायिका को दिङ्नाग के विज्ञानवाद का अध्ययन करवाता है, जिसका समय चतुर्थ शताब्दी से पूर्व नहीं। शात्तन, शेंगुट्टुवन की कल्पितकथाश्रित गंगा पर्यन्त युद्ध-यात्रा का तथा सुदूर दक्षिण में अगस्त्य द्वारा अपने कमण्डुल से कावेरी नदी जिससे चोल देश समृद्ध हो सके, को उत्पन्न करने की कथा का उल्लेख करता है। उसकी प्रस्तावना में चोलों को भी सूर्यवंशी कहा गया है।

प्राचीन तमिल साहित्य में कभी-कभी कांची प्रदेश—तोण्डैमण्डलं के उल्लेख भी आते हैं, उदाहरण के लिए इसके राजा तोण्डैमान् इलन्दिरैयन् का, जो करिकालन का समकालीन था। ऐसी प्रतीति हो सकती है कि कांची के वंश का कुल नाम तमिल में तोण्डै था और संस्कृत नाम पल्लव जिससे हम पश्चात्काल में सुपरिचित हो जाते हैं, इसी की तुलना में रखा जायेगा। दोनों का अर्थ, 'कोंपल' अथवा 'तन्तु' है। **स्कन्द पुराण** में (II, 1, 9, 53 ff) वंश के प्रवर्तक तोण्डमान के जीवन चरित का वर्णन किया गया है। वहां यह कहा गया है कि वह चन्द्रवंशी

था और उसने एक पाण्ड्य राजपुत्री से विवाह किया। यह उसका सम्बन्ध **पल्लवों** अर्थात् 'कोपलों' (10-38) से भी स्थापित करता है, जहां से उसको एक नयी राजधानी की स्थापना करने की प्रेरणा मिली, जिसके पश्चात् वह सम्राट् (चक्रवर्ती) बन गया। **पत्तुप्पाट्टुओं** में से एक पेरुम्बाणार्रुप्पड़ै इलन्दिरैयन और कांची के विषय में है जिसमें इस राजा को समुद्र की ऊर्मियों (**तिरैयर**) के परिवार में विष्णु का वंशज कहा गया है, जिससे चित्र अस्पष्ट हो जाता है। चाहे कुछ भी हो, पल्लवों का सम्बन्ध सदैव समुद्र के साथ जोड़ा जाता है और दक्षिण-पूर्वी एशिया में उपनिवेश स्थापित करने में उन्होंने अग्रसर होकर भाग लिया है। नवमी शताब्दी में हमारे पास किसी अज्ञात लेखक की रचना, नन्दिक्कलम्बकं है। यह तमिल काव्य उस समय के राजा नन्दिवर्मा तृतीय पल्लव के विषय में है जिसमें पाण्ड्यों पर जिन्होंने उसके राज्य के आरम्भ में ही उसके राष्ट्र को जीतने का प्रयत्न किया था—उसकी विजय का वर्णन है।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ के आस-पास पल्लव वंश कलभ्र शासन से स्वतन्त्र हो गया, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। तब उन्होंने क्रमशः अपने राज्य का विस्तार किया और कलभ्रों को पूर्णरूप से परास्त कर दिया। उसी समय एक चोल कुल का भी पुनः उदय हुआ, परन्तु पाण्ड्यों की रोक-थाम के लिए उन्होंने पल्लवों के साथ मैत्री की सन्धि कर ली। नन्दिवर्मा तृतीय की निर्णायक विजय के पश्चात् चोलों की स्थिति बहुत दृढ़ हो गयी। दसवीं शताब्दी में उन्होंने पाण्ड्य राज को जीत लिया और तब अपने शासन का दक्षिण भारत, सिंहल, दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा इण्डोनेशिया (सुमात्रा) में एक विशाल साम्राज्य पर विस्तार किया। तमिल में (लिखी गयी) कुछ ऐतिहासिक ग्रंथ इस साम्राज्य (काल) से सुरक्षित रह गयी हैं, विशेषतः बारहवीं शताब्दी से, इस काल का सिंहल का इतिहास-लेखन में अनायास ही इन शक्तिशाली पड़ोसियों के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। इससे चोल साम्राज्य के विषय में हमारी प्रचुर ज्ञान-वृद्धि हुई है। **वीरशोलियं** के भाष्य में एक तमिल प्रशस्ति में जिसकी रचना दसवीं शताब्दी में हुई उस समय शासन करने वाले सम्राट सुन्दर की प्रशंसा की गयी है और यह प्रार्थना की गयी है कि (भगवान) बुद्ध उसकी रक्षा करें। चोल सम्राटों के पुराभिलेख भी उनके इतिहास का वर्णन पर्याप्त विस्तार में करते हैं, संभवतः किसी भी अन्य वंश की तुलना में वे अधिक भरपूर हैं और एक मुख्य स्रोत है परन्तु यहां हम अपने आपको साहित्यिक स्रोतों तक जो हस्तलिखित ग्रन्थों में सुरक्षित हैं, सीमित रख रहे हैं। प्रसंगवश हम यह जानते हैं कि इन साहित्यिक इतिहासों में से कुछ बचे नहीं रहे (जहां तक इस समय हमें ज्ञान है) क्योंकि पुराभिलेखों में अज्ञात ग्रंथों के निर्देश पुराभिलेखों में विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए, **राजराजविजय** राजराज प्रथम (985-1014) पर एक महाकाव्य प्रतीत होता है। एक **कुलोत्तुंगचोल चरित**

कुलोत्तुंग प्रथम (1070-1118) पर तिरुनारायण का लिखा एक जीवन-चरित है। ये दोनों कृतियां संभवतः उनके नायकों के समकालीन थीं। स्पष्टतया वे चोल वंश के विलय के पश्चात् विलुप्त हो गयीं।

जयन्गोण्डार का **कलिंगत्तुप्परणि** तमिल में एक संग्राम विषयक कविता है जिसमें कुलोतुंग के कलिंग पर अभियान का वर्णन है, जिसके साहित्यिक गुण के लिए इसकी बहुत प्रशंसा की जाती है, और संभवतः इसी कारण यह सुरक्षित रह गया है। यह राज्यकाल के अन्त के निकट लिखा गया था और यह उसी की विजयों का यश गाता है। राजा के जन्म तथा यौवन का वर्णय संक्षेप में किया गया है। तब युवराज होने पर वह कवि-समय के अनुसार दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है, जिसका अर्थ यहां पर कार्यरूप में प्रायः उत्तर दिशा में एक दीर्घ अभियान है, यद्यपि दक्षिण-पूर्व एशिया में भी एक युद्ध का उल्लेख है। उसकी अनुपस्थिति में उसके पिता की मृत्यु हो जाती है, और तदनन्तर अराजकता व्यापक हो जाती है। परन्तु नायक लौट आता है, शान्ति स्थापित करता है और सिंहासन पर अधिकार कर लेता है। तत्पश्चात् (1110 के आस-पास) कुलोतुंग अपने एक सामन्त को, दूसरे अभियान पर उत्तर में भेजता है, जो कलिंग की सेना को पराजित कर देता है जिसके परिणामस्वरूप कलिंग का राजा (अनन्तवर्मा) आत्मार्पण कर देता है और नियमानुसार कर देना स्वीकार करता है। (युद्ध का कारण नियमानुसार कर का न देना ही था) यह कुतूहल की बात है कि विल्हण के **विक्रमांकदेवचरित** जिसका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं, भी उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है जिनका जयन्गोण्डार के काव्य में वर्णन है, विशेषतः चोल सम्राट् की मृत्यु तश्पश्चात् आने वाली अराजकता (एक अवैध राजापहारी का प्रादुर्भाव) परन्तु विक्रमादित्य का हस्तक्षेप और विजय। यह विजय चाहे किसी प्रकार की हो और इसके तत्कालीन परिणाम कैसे भी हों, कुलोत्तुंग ने शीघ्र ही अपने आप को चोल सम्राट् बना लिया और **कलिंगत्तुप्परणि**, विक्रमादित्य के ऊपर उसकी विजय की मांग करती है। इस सम्बन्ध में कुलोत्तुंग ने राज्यसिंहासन प्राप्त करने के लिए कौन-सा मार्ग अपनाया, इस विषय में सन्देह उत्पन्न होता है। क्या वह सचमुच युवराज था? उसके उत्तराधिकार प्राप्त करने के विषय में जिन स्रोतों का हम उपयोग कर सकते हैं वे न तो पूर्ण स्पष्ट हैं और न ही उनका एक मत्य है, और हमें यह सन्देह होने लगता है कि विल्हण की भांति, परन्तु उससे कम निन्द्य रीति से, जयंगोण्डार ने यहां ऐसी रचना की है जो अंशतः उसके संरक्षक के चरित के औचित्य के लिए एक अपदेश है, जिसमें उसके अधिकार के वैध होने के प्रश्न का समीकरण किया गया है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि राजाओं द्वारा सुकवियों की सेवाओं के गुण ग्रहण किये जाने की अधिक संभावना थी, जब उनको ऐसे व्यपदेश की आवश्यकता पड़ती थी जिसे थोड़ी-सी वाग्मिता प्रस्तुत कर सकती थी।

ओट्टक्कूत्तन ने कुलोत्तुंग के पश्चात् आने वाले तीन सम्राटों अर्थात् विक्रम, कुलोत्तुंग द्वितीय, तथा राजराज द्वितीय की राजसभाओं में उपस्थान किया और उन सब पर काव्य लिखे। इनमें विक्रम पर एक युद्धविषयक कविता (**परणि**) (पुनः कलिंग के विरुद्ध) और उन सब पर शान्तिपरक कविताएं (उलाएं)। उनमें से दूसरे के बाल्यकाल पर लिखी गयी **कुलोत्तुंग सोलन पिल्लैत्तमिल** अधिक काव्यमय है और कवि की सबसे श्रेष्ठ रचना मानी जाती है परन्तु इतिहासकार को इससे न्यून प्राप्ति होती है। **विक्रमशोलन उला** पूर्वकालीन चोल इतिहास पर लागू होने वाले कुछ रोचक प्रसंगों का उल्लेख करती है। (जिनमें करिकालिन की पूर्व-कथा तथा कुलोत्तुंग प्रथम के चालुक्य साम्राज्य के अन्दर दूर तक जाकर पश्चिम पयोधि पर्यन्त पहुंचने वाले अभियानों के वृत्तान्त भी शामिल हैं। इससे उसके राज्यकाल का चित्र हमारे लिए अधिक जटिल हो जाता है।) परन्तु एक **उला** होने की दृष्टि से, इसका मुख्य विषय, अपनी राजधानी में सम्राट् की एक शान्तिपूर्ण यात्रा है। **कुलोत्तुंग शोलन् उला** का मुख्य तथा सविस्तार वर्णन का विषय चिदम्बरं में नटराज शिव को अर्पित एक देवालय का पुनर्निर्माण है।

चोलों के इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि तमिल तथा संस्कृत में परम्परागत सामग्री की एक विशाल राशि देवालयों के वृत्त विवरणों अन्य पुण्यस्थानों की पुराकथाओं इत्यादि के रूप में विद्यमान है। दक्षिण-भारत के देवालयों की प्राचीन वस्तुओं पर लगभग पांच शत **स्थलपुराण** विद्यमान माने जाते हैं। अभी तक ऐतिहासिक स्रोतों की दृष्टि से इनका गवेषण नहीं हुआ और वस्तुतः ये अपनी पुराकथाओं को धार्मिक तथा आश्चर्यजनक प्रसंगों में प्रस्तुत करते हैं और वास्तविक तथ्यों तथा तिथिक्रम के प्रति निरपेक्ष हैं। उदाहरण के लिए हम बृहदीश्वरमाहात्म्य पर जो थांजूवूर में शिव के एक पूजास्थान 'बृहदीश्वर' पर एक **स्थलपुराण** है, दृष्टिपात कर सकते हैं (वर्तमान देवालय चोल वंश का बनाया हुआ है) यह **माहात्म्य** (एक पवित्र स्थान की स्तुति) सोलह चोल राजाओं के इतिहास का वर्णन करता है जिनके विषय में यह विचार है कि उन्होंने थांजूवूर को अपनी राजधानी बनाया, विशेषतः देवालयों तथा सिंचाई के साधनों का (वहां) निर्माण किया। (यह सम्पर्क आकस्मिक नहीं। मध्य-युग में देवालय महत्त्वपूर्ण आर्थिक तथा प्रशासनिक भूमिका निभाते थे) साम्राज्य काल के लिए जिन राजाओं का हमें अन्यथा ज्ञान है, उनसे यह सूची मेल नहीं खाती, यद्यपि कुछ नाम समान हैं और संभवतः ये इससे पूर्ववर्ती अज्ञात काल के चोल शासक थे जो कलभ्रों तथा पल्लवों के आधिपत्य के अधीन थांजूवूर के स्थानीय राजा थे।

इस प्रश्न का निर्णय इसी प्रदेश से सम्बन्ध रखने वाले अन्यतर **स्थलपुराणों** के अध्ययन से किया जा सकता है। इस माहात्म्य के आधार पर प्रतीत होता है कि

विरूपाक्ष ने (सत्रहवीं शताब्दी ?) जो कि संभवत: बृहदीश्वर मन्दिर का पुजारी था, अपना **चोल चम्पू** जो काव्य शैली की एक श्रम-साध्य रचना के रूप में परिकल्पित किया गया था, देवालय के प्राचीन संरक्षकों के विषय पर लिखा। देवालय के अन्य उल्लेखनीय इतिहास, **मदुरैत्तलवरलारु** (मदुराय के महान् देवालय पर) तथा **श्रीरंगम्कोयिलोलुगु** (श्रीरंगम के देवालय पर) हैं।

अध्याय-20

केरल में इतिहास लेखन

हम ऊपर केरल की उस परम्परागत कथा का उल्लेख कर चुके हैं जिसके अनुसार इस देश की उत्पत्ति परशुराम के एक चमत्कार करने से हुई। यह परम्परागत कथा **केरलोत्पत्ति** में उपलब्ध है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो केरल में प्रचलित प्राचीन कथानकों के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। यह शताब्दियों से चला आ रहा है, इसकी वृद्धि भी हुई है और परिशोधन भी हुआ है, और अब यह आधुनिक मलयालम भाषा में कई भिन्न-भिन्न पाठान्तरों में विद्यमान है। यह केरल के प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास का पौराणिक सार्वभौम इतिहास के साथ जोड़ने का काम करता है। केरलोत्पत्ति का आरम्भ परशुराम से होता है जिसने अपने परशु को देश की लम्बाई में फेंककर इसको उत्पन्न किया। यह राम एक भार्गव पुरोहित था, जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं, और परम्परागत कथा का अर्थ यह समझना चाहिए कि वह ब्राह्मणों द्वारा केरल के बसाए जाने तथा उनकी प्रेरणा से वहां समाज की व्यवस्था किये जाने का लिखित वृत्तान्त है। केरल के राजाओं के साथ राम के सम्बन्धों के विषय में, जिनके फलस्वरूप ब्राह्मणों के परिवार वहां बस गये, केरल में लिखी गयी अन्य पुस्तकों में, इस कथा के वस्तुतः भिन्न-भिन्न रूपान्तर विद्यमान हैं। संगम युग के प्राचीन राज्यों के विषय में, जिनका ज्ञान हमें ऊपर उल्लिखित स्रोतों से प्राप्त है, **केरलोत्पत्ति** अस्पष्ट प्रतीत होती है। उनके राजे कथानकों में लुप्त हो गये हैं। हमें परम्परागत कथाएं बताती हैं कि इन धूमिल 'प्रथम चेरों' के पश्चात् किसी प्रकार की एक लोक-क्रान्ति हुई जिसमें राजाओं को विस्थापित कर दिया गया और एक गणराज्य की स्थापना की गयी जिसमें शासन करने वाले चुने जाते थे जिनको 'रक्षक' (रक्षापुरुष) कहते थे। **केरलोत्पत्ति** के अनुसार राष्ट्र का शासन पांच रक्षापुरुषों की एक परिषद् के हाथ में था, जिनमें से एक प्रधान का कार्य करता था, और बारह वर्ष की अवधि के लिए चुना जाता था, जबकि शेष चार, तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते थे और गणराज्य के चार प्रान्तों के लिए

उत्तरदायी थे। रक्षकों को धनाढ्य बन जाने से निषेध करने के लिए नियम बने हुए थे। कुछ समय के पश्चात् यह गणतन्त्रात्मक व्यवस्था कठिनाई में पड़ने लग गयी। कुछ रक्षा पुरुषों के विषय में यह कहा गया है कि उन्होंने स्वेच्छाचार की शक्ति ग्रहण कर ली और जनता में असन्तोष उत्पन्न कर दिया जबकि सामयिक चुनावों ने मतभेद तथा दलवन्दी को जन्म दिया। अन्त में जन-सभा ने (यह नियमानुसार प्रति-बारह वर्ष सत्र करती थी) संरक्षकों को निरस्त कर देने का निर्णय किया, और उनके स्थान पर सभापतियों को देश के बाहर से निमन्त्रित किया, और उनको **पेरुमाल** की उपाधि प्रदान की। उनमें से प्रत्येक बारह वर्ष शासन करेगा। इसका आशय यह था कि इस पद्धति से प्रधान-पद के चुनावों से स्थानीय स्वार्थ तथा दलबन्दी समाप्त हो जाएगी। प्रथम पेरुमाल, केय की नियुक्ति ई० प० 216 में मानी जाती है, यद्यपि इस तिथि के विषय में मतभेद है, और कुछ (लेखक) पेरुमाल-काल को बहुत आगे रखना चाहेंगे। यह पद्धति सफल हुई प्रतीत होती है, और यह दीर्घकाल तक चलती रही, कम-से-कम 25 पेरुमालों का नाम परम्परा में आता है। (कुछ मृत्यु को प्राप्त हुए या उनके पदाधिकार की अवधि से पहले ही निरस्त कर दिए गये, परन्तु कुछ दूसरों के विषय में यह धारण है कि वे बहुत दीर्घतर समय तक शासन करते हैं, क्योंकि उनकी नियुक्ति की अवधि बढ़ा दी जाती थी। अधिकतम नियमानुसार बारह वर्ष की अवधि पाते थे) पेरुमाल और उनसे पहले स्पष्टतः 'संरक्षक' वंची या मध्यकालीन महोदय या वर्तमान कोचीन से शासन चलाते थे। यह स्पष्ट है कि **केरलोत्पत्ति** की परम्परा-कथा इतिहास को अन्तिम पेरुमाल चेरमान से आगे नहीं ले जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि पेरुमालों के अनन्तर, राजाओं का कुलशेखर या केरल वंश (सत्तारूढ़) हुआ, जो महोदय से शासन करता था परन्तु इस वंश का कोई क्रमबद्ध इतिहास सुरक्षित रहा प्रतीत नहीं होता।

केरलोत्पत्ति के अनुसार केरल के चार प्रान्तों में से तुलु वर्तमान कर्णाटक-समुद्र-तट के बराबर है जबकि मूषक (चूहों का देश) से वर्तमान केरल का उत्तर-भाग अभिप्रेत प्रतीत होता है, (हस्तलिखित ग्रन्थ भ्रान्ति-पूर्ण है, और उनके भूगोल में भिन्नता है) इसको कोल भी कहते थे। ग्यारहवीं शताब्दी में अतुल ने एक महाकाव्य लिखा जिसका नाम **मूषकवंश** है, 'मूषकों का इतिहास (या कुल') जिस का अभिप्राय परशुराम के समय से लेकर कवि के समकालीन श्रीकण्ठ तक के राजाओं का इतिहास लिखना है। महाकाव्य का प्रथम भाग परम्परागत कथाओं के समान है। जब परशुराम ने क्षत्रियों का संहार कर दिया। एक हैहय राजा (कार्तवीर्य अर्जुन के पुत्रों में से एक ?), जो महिष्मती पर शासन कर रहा था, की महिषी जो गर्भवती थी, (मूषक देश में) मूषक पर्वत की एक गुहा में छुप गयी। एक दैत्यकाय मूषक ने उस पर आक्रमण करने के लिए (गुहा में) प्रवेश किया,

परन्तु उसकी क्रोधाग्नि ने जो उसके नेत्रों से प्रज्वलित हुई, उस (मूषक) को भस्मसात् कर डाला, जिस पर वह एक पर्वतराज (पहाड़ के राजा) के रूप में प्रकट हुआ जो एक ऋषि के शाप से चूहा बन गया था, जिससे वह अब मुक्त हो गया। इसके पश्चात् रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका पालन पोषण रानी के साथ आए हुए कुल-पुरोहित ने किया। पीछे से परशुराम को एक अनुष्ठान के लिए एक क्षत्रिय की सेवाओं की आवश्यकता हुई जिसके लिए ये क्षत्रिय अनिवार्य थे पर्वतराज को पता लगा कि एक विद्यमान है—(अर्थात्) यह क्षत्रिय युवक और उसने उसका सहयोग प्राप्त कर लिया। तदनन्तर राम ने मूषक के राजा के रूप में अभिषेक कर दिया। उसका नाम रामघट (राम का घड़ा) विख्यात हो गया, क्योंकि राम ने उसका अभिषेक एक घट के जल से किया था। इस प्रकार अतुल उत्तर केरल के मध्यकालीन राजाओं का उद्गम प्राचीन चन्द्र वंश से निकलता है। हम यहां केरल के गण-तन्त्र का कुछ पता नहीं मिलता, परन्तु उसके स्थान पर हमारे सामने रामघट से सीधे श्रीकण्ठ तक राजाओं की एक दीर्घ पंक्ति उपस्थित हो जाती है।

रामघट के जीवन का वर्णन कई सर्गों में किया गया है, जिसमें उसकी एक कल्पित दिग्विजय, और विशेषतः उसकी पैतृक महिष्मती भी शामिल है जिसे उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को दे दिया। मूषक में अपने छोटे पुत्र नन्दन का अपने उत्तराधिकारी के रूप में अभिषेक करने के पश्चात् वह स्वयं विश्राम के निमित्त वन को चला गया। नन्दन ने युद्ध के स्थान पर विलास को अपना लक्ष्य बनाया। उसकी विलास क्रीड़ाओं का वर्णन कई सर्गों में किया गया है। इस प्रकार के वर्णन महाकाव्य शैली में अत्यन्त अभीष्ट होते हैं। अतुल इस शैली का एक गण्य व्याख्याता है। तत्पश्चात् ग्यारहवें सर्ग में नन्दन से लेकर ईशानवर्मा द्वितीय (नवमी शताब्दी ?) अभी तक किसी निश्चित समकालीनता का निर्देश नहीं किया गया, जिससे कि अतुल के ग्रंथ के अधिक इतिहासपरक भाग का निश्चित तिथि-क्रम उपलभ्य हो सके) तक सब राजाओं का संक्षेप में पर्यालोचन किया गया है। (इस भाग में) कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का जैसे कि युद्ध (उदाहरण के लिए पल्लवों के साथ) और देवालयों की प्रतिष्ठा। इस सर्ग में जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है उनमें अधिकतम का आधार ऐतिहासिक प्रतीत होता है, परन्तु इसमें जिन राजाओं का वर्णन किया गया है उनको पुराकथाओं की प्राचीनता प्रदान करने के लिए कोई (आधार) नहीं है। अतुल के स्रोतों का एक भाग संभवतः उन देवालयों के अभिलेख तथा परम्परागत वृत्तान्त रहे होंगे जो उनकी प्रतिष्ठा करने वाले राजाओं की स्मृति को जीवित रखे हुए थे। कवि ने इनको वंशावलियों में जो राजकीय अक्षपटलों में सुरक्षित थी, युक्तिपूर्वक स्थान देने का प्रयत्न किया होगा।

बारहवां सर्ग अधिक विस्तृत और ऐतिहासिक प्रतीत होता है। यह वंश के पन्द्रह के आसपास राजाओं का अविच्छिन्न तथा अधिक विस्तीर्ण वृत्तान्त उपस्थित करता है। ईशानवर्मा द्वितीय ने कलचुरी कुल की एक राजकुमारी के साथ विवाह किया। यह कुल नर्मदा के उपरितन भाग पर अवस्थित डाहल (डहाला) में राज्य कर रहा था, और प्राचीन हैहयों से अपना उद्‌गम मानता था (इस बात की अधिक संभावना प्रतीत नहीं होती कि वह कलचुरी राजनीति में अधिक हस्तक्षेप कर सकता था) जबकि इन दोनों छोटे राज्यों के बीच राष्ट्रकूट साम्राज्य एक विशाल प्रदेश पर प्रभुत्व स्थापित किए हुए था। तथापि अतुल उसे यह श्रेय देता है कि उसने अपने स्वसुर को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए अभियान किया। तब वह केरल (अर्थात् केरल का मध्य भाग जो वञ्चि के इरद-गिरद था, अथवा इस काल में महोदय) के राजा के साथ युद्ध में व्यस्त हो गया जो उसका श्याल था परन्तु अन्त में दोनों में वैर शान्त हो गया और सन्धि हो गयी। तत्पश्चात् ईशानवर्मा ने एक चोल राजकुमारी से विवाह किया जिससे राज्य के उत्तराधिकारी ने जन्म लिया।

राजा वलिधर (कलचुरी राजकुमारी की संतति से ईशानवर्मा का पौत्र) के समय से इस वंश में मातत से उत्तराधिकार की प्राप्ति की प्रथा स्वीकृत कर ली गयी जो कि मध्यकालीन केरल का विशेष लक्षण था। (इससे एक मूलतः आर्य राजवंश के स्थानीय रीतियों को आत्मसात कर लेने का सुझाव मिलता है) वलिधर ने, अपनी अन्तरीय सीमा बनाने वाले पर्वतों के पार अपने पड़ोसियों, कर्णाटक के गडाओं के एक आक्रमण को परास्त किया। उसके भतीजे विक्रमराम ने मूलवास के प्रसिद्ध बौद्ध चैत्य की समुद्र लहरों से एक सामुद्री प्राकार बनाकर रक्षा की। जयमानि द्वितीय के विषय में यह उल्लेख है कि उसके राज्यकाल में मूषक में सम्पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता थी, जब अत्यन्त विरोधी सिद्धान्तों के अनुयायियों में भी मैत्री का भाव था। तेरहवें और चौदहवें सर्गों में जयमानि तृतीय के भतीजे वलभ द्वितीय के जीवन तथा राज्यकाल का वर्णन है। युवराज होने के नाते जयमानि ने उसको सेना के साथ, चोल आक्रमण के विरुद्ध (या तो राजराज प्रथम या राजेन्द्र के? चोल सम्राट् का नाम नहीं दिया गया) केरल के राजा की सहायता करने के लिए भेजा। दक्षिण में अभियान करते हुए वलभ को जयमानि की मृत्यु तथा राजसिंहासन पर अवैध अधिकार स्थापित होने का समाचार मिला। वह झटपट वापस लौटता है, और मूलवास में धार्मिक सहायता प्राप्त करने के लिए रुककर, राज्यापहारी को निकाल फेंकता है। इस प्रकार राजा बनकर वह दीर्घ काल तक प्रायः शान्तिपूर्ण राज्य करता है। वलभ द्वितीय का छोटा भाई श्रीकण्ठ उसका उत्तराधिकारी हुआ। पन्द्रहवें तथा अन्तिम सर्ग में उसके समृद्धिशाली राज्यकाल का वर्णन है।

केरल के जो सद्यकाल तक स्वतन्त्र राज्यों के एक तांते में विभक्त रहा,

उत्तरकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में से हम केवल दो उदाहरणों का उल्लेख करेंगे। दोनों ही संस्कृत में हैं और शुद्ध ऐतिहासिक न होकर दोनों साहित्यिक अधिक हैं। ये, मलयालम में लोकप्रचलित कथाओं के पुंज तथा संस्कृत में लिखित, स्थानीय पुरावार्ताओं के एक संग्रह, तथा **केरलोत्पत्ति** के न्यूनाधिक एक पाठान्तर मात्र जिसकी विवेचना ऊपर हो चुकी है—**केपलमाहात्म्य** से विभिन्न हैं।

दामोदर (चौदहवीं शताब्दी), केरल में नटों के कुलक्रमागत समाज (चक्यारों या भरतगोत्रीयों) में से एक तथा केरल (मध्य-केरल के संकुचित अर्थ में राजधानी महोदय) के राजा के सामन्त और कायड़कुल के राजकुमार केरलवर्मा का राज कवि था। दामोदर ने केरलवर्मा की पुत्री उण्णियाटी के वृत्तान्त पर एक महाकाव्य **शिवविलास** आठ सर्गों में लिखा। उसको महादेवी पार्वती के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका जन्म शिव के प्रसाद से राजकुमार की पुत्री के रूप में हुआ। जब उसकी आयु बारह वर्ष की आयु पार कर जाती है तब उसका पिता उसके लिए वर ढूंढ़ने की समस्या पर विचार करता है। क्योंकि वह शिव की पत्नी पार्वती का अवतार है, इसलिए यह आवश्यक है कि उसके लिए केवल स्वयं शिव का अवतार एकमात्र अनुरूप पति ढूंढ़ा जाए। इस प्रकार का अवतार कहां हुआ है यह न जानते हुए, केरलवर्मा अपनी पुत्री के लिए स्वयम्वर रचाता है। इसमें वह अन्तःप्रेरणा से केरल के राजकुमार रामवर्मा को चुन लेती है। विवाह के पश्चात् उण्णियानी अपने पति के साथ महोदय को प्रस्थान करती है, और वहां के उसके जीवन-वृत्तान्त के साथ महाकाव्य समाप्त हो जाता है। यद्यपि यह चौदहवीं शताब्दी में केरल की राजनीति का चित्र सुरक्षित रखता है, **शिवविलास** राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा सामाजिक इतिहास के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, और इस काल के शासन करने वाले कुलों के जीवन के असंख्य प्रासंगिक विस्तृत वृत्तान्त उपस्थित करता है जैसे एक राजकुमारी की शिक्षा, सांस्कृतिक जीवन, माता के कुल-क्रम से सम्पत्ति-प्राप्ति की पद्धति के कुछ पक्ष इत्यादि।

उन्नीसवीं शताब्दी से बची (भ्रान्ति से वञ्ची की प्राचीन नगरी को ट्रावंकोर नहीं समझ लेना चाहिए) के राजाओं पर (लिखे गये) साहित्यिक ग्रन्थों में, हमें, स्वाति तिरुनाल रामवर्मा (1813-1847) जो स्वयं एक उल्लेखनीय कवि तथा अपनी राजधानी अनन्तशयन (Trivandrum) में पद्मनाभ के देवालय से सम्बद्ध पुराकथाओं पर एक चम्पू का लेखक था, उस पर एक अज्ञात लेखक द्वारा **चम्पू** शैली में लिखे गये **रामवर्मविजय** का उल्लेख करना उचित होगा।

अध्याय-21

कोंगु तथा कदम्बों की पुराकथाएं

मूषक के पूर्व में पर्वतीय क्षेत्र जो कर्णाटक तथा तमिलभाषी प्रदेश के बीच सीमाप्रान्त है, उसमें कोंगु स्थित है। इसकी ऐतिहासिक पुराकथाएं एक तमिल पुरावृत्तान्त **कोंगुदेशराजाकक्ल्** में संगृहीत की गई हैं जिसका संकलन शायद उन प्राचीनतर स्रोतों से जो इस समय विद्यमान नही हैं, संभवत: सत्रहवीं शताब्दी में किया गया। इस पुरावृत्तान्त का आरंभ सात राजों के एक राष्ट्रकूट (यरट्ट) वंश से होता है जिसका समय यह शक सम्वत्सर (ई० प० 78) की आरंभिक शताब्दियों में रखता है। यदि हम यह मान लेते हैं, तो इस आधार पर कि कोंगु या केशर देश **पदिर्रिप्पत्तु** तथा **शिलप्पदिकारम्** के अनुसार दूसरी शताब्दी में चेरों के शासन में था, तो हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि इन राष्ट्रकूटों ने, तीसरी शताब्दी में चेरों को विस्थापित किया। इस वंश के विषय में यह पुरावृत्त अनिश्चित-सा है, और इसके राजाओं के राज्यकालों का वर्णन सामान्य तथा रीति अनुसारी शैली में करता है, परन्तु यह अवश्य सूचित करता है कि वे जैन धर्म में विश्वास रखते थे, यहां तक कि अपने शासन कार्य में वे प्राय: जैन श्रमणों का पथप्रदर्शन स्वीकार करते थे। अन्तिम राजा विक्रम के विषय में यह कहा जाता है कि उसने चोल, पाण्ड्य, केरल और मलय (पर्वत) देशों को जीता, तथा जैन धर्म के स्थान पर उसको शैवधर्म स्वीकार करवाया गया। उसने कर्णाटक पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया, अथवा इस पर शासन भी किया, परन्तु इस विषय में पुरावृत्त अनिश्चित प्रतीत होता है, और तब अकस्मात् गंग वंश पर पहुंच जाता है, जिसने कोंगु प्रदेश पर सभवत: चतुर्थ शताब्दी से आरंभ करके कई शताब्दियों पर्यन्त राज्य किया।

गंगवंशीय भी पुन: जैन थे, और एक पुराभिलेख यह भी सूचित करता है कि इस वंश का प्रथम राजा माधव प्रथम अथवा कोंगुनिवर्मा प्रथम को जैन श्रमणों ने राजा बनाया था। शायद कर्णाटक में विक्रम की पराजय हुई, या जैन नेताओं ने उसको राजसिंहासन से उतार दिया, अथवा ये दोनों घटनाएं घटीं। पुरावृत्तान्त

की प्रवृत्ति गंग राजाओं की प्रशंसा सामान्य रूप में करने की भी है, जिसके कुछ अपवाद भी हैं। परन्तु यह उत्तराधिकार की अनुपूर्वी के प्रति अधिक सावधान है जैसे कि एक निस्सन्तान राजा का पुत्र को गोद लेना और अन्य विस्तृत वर्णन। यद्यपि यह गंग राजाओं के सफल युद्धों की बात कहता है, यह नहीं बताता कि आरंभ में वे पल्लवों के सामन्त थे (जैसा कि हमें उनके अपने अभिलेखों से ज्ञात होता है।) पीछे से वे कर्णाटक के चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों के आधिपत्य के नीचे आ गये। यह पुरावृत्त नवमी शताब्दी के अन्त में चोल सम्राट आदित्य प्रथम के कोंगु पर आक्रमण के विषय में कहता है जब इसकी राजधानी (कावेरी के ऊपर वाले भाग में तलवनपुर) को ग्रहण कर लिया गया और तब यहां से लेकर कोंगु देश को चोल साम्राज्य का एक भाग मान लेता है (प्रसंगवश चोलों के विषय में कुछ लाभप्रद जानकारी भी उपस्थित कर देता है।)

तब यह हौय्सल राजा विनयादित्य द्वारा ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में कोंगु के विजित होने का वर्णन करता है (विनयादित्य छठे चालुक्य विक्रमादित्य के सामन्त होने के नाते जिस का विवेचन ऊपर हो चुका है—चोलों के विरुद्ध) पुरावृत्त बताता है कि विनायादित्य ने स्थानीय राजाओं को अनुनय से अपनी शरतें मानने पर सहमत करके, देश पर धीरे-धीरे अधिकार कर लिया। एक विजित देश को शान्त करने पर यह एक रुचिकर टिप्पण है। यहां से यह पुरावृत्त होय्सल राजाओं के कोंगु तथा कभी-कभी तमिल देश में, राज्य का क्रमिक वर्णन आरम्भ करता है (जिनकी ओर हम नीचे चल कर ध्यान करेंगे) (नरसिंह प्रथम ने द्रविड़ देश से कर ग्रहण किया) चौदहवीं शताब्दी से जब होय्सल राज्य विजयनगर साम्राज्य में विलीन कर लिया गया **कोंगुदेशराजक्कल** नये सम्राट् वंश के साथ अपना वर्णन जारी रखता है। वह अनेक अभियानों का वृत्तान्त देता है और प्रचलित शैली के अनुसार जागीरों के पुनर्वितरण की ओर भी ध्यान देता है। सबसे अन्त में जिन घटनाओं का वर्णन है, वे विजयनगर के प्रान्तीय राज्यपालों के गृह-युद्ध हैं, जो सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में हुए जब केन्द्रीय साम्राज्य शक्ति का ह्रास हो चुका था।

उसी समय के आसपास (चतुर्थ शताब्दी) कदम्बकुल का आविर्भाव होता है, जबकि गंग वंश का जिनकी भांति ये भी पल्लवों के सामन्त थे। इसका राज्य, तुलु देश (जिस पर इस समय आंलुप कहलाने वाला एक वंश राज्य कर रहा था) और महाराष्ट्र के बीच के कर्णाटक के समुदतटवर्ती प्रदेश पर था, जिसमें वनवास विषय भी शामिल था जो सह्याद्रि के परे देश के अन्दर था। इस वंश की स्थापना करने वाला मयूरशर्मा (या-वर्मा, यह अपर नाम पीछे वा है) जो एक पौराणिक व्यक्ति है जिसने अपने आप को पल्लवों से स्वतन्त्र घोषित कर दिया और जयन्तीपुर (या वैजयन्ती) में अपनी राजधानी स्थापित की। आठ अध्यायों का

एक चम्पू—**मयूर वर्म चरित** जिसका लेखक और समय अज्ञात है—मयूरवर्मा की पुराकथा प्रस्तुत करता है जिसकी तुलना एक अधिक गंभीर वर्णन के साथ की जा सकती है जो उसके प्रपौत्र के समय के अभिलेख में पाया जाता है। यह प्रतीत होता है कि मयूरशर्मा, आंगिरा गोत्र की हारीत शाखा का एक ब्राह्मण था (चालुक्य भी कभी-कभी ऐसी ही घोषणा करते थे, जिन्होंने सातवीं शताब्दी के आरंभ में कदम्बों पर विजय प्राप्त की, यद्यपि कदम्बों की शाखाएं उत्तर काल में पुनः प्रकट हो जाती हैं।)

अध्याय-22

होय्सल इतिहास-लेखन

बारहवीं शताब्दी में होय्सल चालुक्यों से निष्पन्न रूप में स्वतन्त्र हो गए और कर्णाटक में साम्राज्य स्थापित कर लिया, जबकि इस शताब्दी के अन्त में महाराष्ट्र में एक यादव वंश अथवा अधिक यथार्थ रूप में सेवुण वंश स्वतन्त्र हो गया और चालुक्य साम्राज्य को समाप्त कर दिया। उदारहण के लिए उनके अपने कुलक्रमागत राजकवि विद्या चक्रवर्ती तृतीय (चौदहवीं शताब्दी) जिसने अपने संरक्षक बल्लाल तृतीय पर अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों पर अपनी टीकाओं में उदारहण के रूप में प्रस्तुत किए गए प्रशस्ति-परक पद्य लिखे हैं, तथा अपने महाकाव्य **रुक्मिणी कल्याण** के ऐतिहासिक भूमिका रूपी सर्ग में जिसमें उसने अपने तथा अपने राजा के पूर्वजों का वर्णन किया है, के अनुसार, होय्सल यादव होने का अधिकार-पूर्वक कथन करते हैं, (यह महाकाव्य भी एक 'यादव' ग्रन्थ ही है, क्योंकि यह कृष्ण के विषय में है, जो निश्चित रूप से आकस्मिक घटना नहीं है, परन्तु अपने संरक्षक को प्रसन्न करने की आशा से लिखा गया है)। यह इस लेखक का पितामह, विद्या चक्रवर्ती द्वितीय या सकल विद्या चक्रवर्ती था जिसने होय्सल इतिहास पर अत्यन्त रोचक ग्रन्थ जिसके विषय में हमें ज्ञान है कि विद्यमान है, अर्थात् **गद्यकर्णामृत** लिखा।

गद्यकर्णामृत, होय्सल सोमेश्वर (राज्यकाल 1236-1254) के जन्म से उसके विवाह तक का जीवनवृत्तान्त है, और उसीके लिए संभवतः 1252 में लिखा गया। सोमेश्वर का जन्म संभवतः 1206 में हुआ और 1232 में उसने विवाह किया। अतः जीवन-वृत्तान्त में जिन घटनाओं का वर्णन है वे उसके पिता नरसिंह द्वितीय (1220-36) के राज्यकाल में घटीं, जिसके निर्णयकारक कर्म वर्णन में छाये हुए हैं। लेखक एक ब्राह्मण था जो 'अभिनव बाण' होने का अधिकार समझता है, अर्थात् **हर्षचरित** के ब्राह्मण लेखक से स्पर्धा करता है। वह विश्वामित्र गोत्र की कात्यायनी शाखा का था। अपने कथानक में निर्णयकारक घटना महेन्द्रमंगल या श्रीरंगम् में नरसिंह द्वितीय और पाण्ड्य के राजा सुन्दर के बीच हुए युद्ध के महत्त्व

को बढ़ाने के लिए, सकल विद्या चक्रवर्ती एक अतिमानुषिक पृष्ठभूमी को बीच में लाता है। यह समझा जाता है कि उसके जीवन चरित का वर्णन, **भारत आख्यान** और **पुराण** के मूल लेखक व्यास ने कैलास पर्वत पर शिव के समक्ष किया।

स्वर्ग में परशुराम तथा एकन्द देवता (शिव के पुत्र और युद्ध के देवता) के बीच कलह हो गई जिसमें उन्होंने एक-दूसरे को पृथ्वी पर जन्म लेने का शाप दिया और इस प्रकार सुन्दर और नरसिंह के रूप में उनका जन्म हुआ। इस प्रकार युद्ध का मूल कारण स्वर्ग में हुई कलह थी, यह समझा जाता था। युद्ध का आरंभ सुन्दर ने किया जिसने चोल देश पर आक्रमण किया और राजराज तृतीय जो उस समय होय्सल साम्राज्य का सामन्त था, उसको पराजित किया। राजराज भाग गया और उसने केन्द्रीय होय्सल देश (इस ग्रंथ में उसको कुन्तल कहा गया है) तथा नरसिंह के संरक्षण में पहुंचने का प्रयत्न किया। परन्तु काड़वों ने उसे बीच में ही पकड़ लिया (जो पल्लव वंशीय सुन्दर के मित्र थे) और प्रतिमुख (उत्तरीय) दिशा से उसके देश पर आक्रमण किया और पकड़कर जयन्तमंगल में कारागार में डाल दिया। तब नरसिंह द्वितीय ने तमिल देश में अभियान किया। जयमंगल को एक सेना भेजी जिसने काडवों को पराजित किया और राजराज को छुड़ाया और तब पाण्ड्य सेना पर महेन्द्रमंगल में आक्रमण किया और उसे पराजित किया। इसके पश्चात् सन्धि हो गई। पाण्ड्य और चोल दोनों नरसिंह के सामन्त बन गए, जिसने इस प्रकार दो मुख्य तमिल वंशों में समानता स्थापित करने तथा समस्त प्रदेश पर अपना साम्राज्य बनाये रखने का प्रयत्न, किया। यह युद्ध (जो 1231-32 के शीतकाल में हुआ प्रतीत होता है) सोमेश्वर के साथ गुर्जर के एक राजा की पौत्री राजकुमारी देविका के विवाह के संभार में एक बाधा बन गया था। नरसिंह की विजय के पश्चात् विवाह संस्कार सम्पन्न हो गया। अपि च सोमेश्वर को उसके पिता ने तमिल देश के मध्य भाग का जो कि पाण्ड्य, चोल और काड़व प्रदेशों के बीच युद्ध-कौशल की दृष्टि से महत्त्व रखता था, राजा प्रतिष्ठित कर दिया और (जैसा कि हमें पुराभिलेखों से अभिज्ञात होता है) अपने-अपने राज्यकाल की तिथियों की गणना 1233 से आरंभ कर दी (अपने पिता की मृत्यु पर 1236 में सम्राट् बनने से पहले) इस प्रकार हम देखते हैं कि सकल विद्या चक्रवर्ती ने अपनी **आख्यायिका** को सोमेश्वर के राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करने के साथ समाप्त किया। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि उसका आदर्श **बाण** अपनी आख्यायिका को हर्ष के द्वारा, निस्सन्देह नितान्त भिन्न परिस्थितियों में, राज्यलक्ष्मी की संप्राप्ति पर समाप्त करता है। अन्य साक्ष्य (पुराभिलेख इत्यादि) यह दर्शाता है कि अपने इतिहास (वर्णन) में बहुत विशुद्ध है।

होय्सल ऐतिहासिक साहित्य में कन्नड़ (अर्थात् कर्णाटक की भाषा) में भी

पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। वंश का अन्त हो जाने के पश्चात् शताब्दियों तक होय्सल इतिहास पर ग्रन्थ लिखे जाते रहे। इनका आधार स्पष्टतः कई प्रकार के शेष रह गये अभिलेख तथा परम्परागत वार्ता थी। कुछ ऐतिहासिक ग्रन्थ भी हैं जैसे कि **होय्सलराजविजय** और **होय्सलराजकुलवंश** तथा प्राचीन विषयों पर पुराकथाओं के संग्रह **स्थलपुराण** जो उनके साम्राज्य में विशेष स्थानों से उनके राज्यकाल में सम्बन्ध रखते थे, जिस प्रकार समस्त दक्षिण भारत में सैकड़ों स्थानों पर है। लक्ष्मणशास्त्री का **गुरुवंश महाकाव्य** (आरंभिक अठारहवीं शताब्दी) जो कर्णाटक में धार्मिक (वेदान्त, अद्वैत) आचार्यों का इतिहास है (तुंगभद्रा पर ऋष्य श्रृंग या श्रृंगपुरी मठ) इसके अन्दर विजयनगर की स्थापना का वृत्तान्त तथा नये राजाओं (हरिहर और बुक्क) और अन्तिम होय्सलों के परस्पर सम्बन्ध जिनका परिणाम होय्सल राज्य का नये साम्राज्य में विलीन हो जाना है, विद्यमान है।

अध्याय-23

आन्ध्र में इतिहास-लेखन

विजयनगर साम्राज्य में इतिहास-लेखन का वर्णन करते रहने से पूर्व, जिसमें चौदहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी पर्यन्त दक्षिण भारत का अधिकतम भाग सम्मिलित था, हमें आन्ध्र देश की परम्परा पर दृष्टिपात करना चाहिए, जो कि साम्राज्य का एक भागभूत था तथा इसके सांस्कृतिक जीवन में जिसका अधिक योगदान था। **सातवाहनों** के पतन के पश्चात् तीसरी शताब्दी में आन्ध्र पर एक इक्ष्वाकु वंश का शासन था, परन्तु चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ तक वे पल्लवों के सामन्तों की स्थिति में पहुंच गये थे। स्पष्टतया पुराणों में उनका उल्लेख श्रीपार्वती आन्धों के नाम से हुआ है (श्रीपर्वत के आन्ध्र) (पूर्वोक्त उनकी राजधानी विजयपुरी के निकट एक पर्वत है) इस प्रकार **पुराण** इस मत का समर्थन करते नहीं प्रतीत होते कि ये राजा सूर्यवंशी इक्ष्वाकुओं के वंशज थे। पांचवीं तथा छठी शताब्दी में आन्ध्र में विष्णुकुण्डी वंश स्वतन्त्र हो गया। इस वंश माधववर्मा प्रथम भारत के सामान्य बौद्ध इतिहास, **मंजुश्रीमूलकल्प** में, जिसका नाम ऊपर लिया जा चुका है, माधव के नाम से उल्लेख हुआ है और दक्षिण भारत की अनेक उत्तरकालीन कथाएं, विशेषतः तेलगु भाषा में उसके चरितों का विशद वर्णन करती हैं। सोलहवीं शताब्दी में विजयनगर का एक सेनापति उसको अपना पूर्वज मानता था। माधववर्मा ने एक वाकाटक राजकुमारी से विवाह किया और इस प्रकार उसने एक ऐसे कुल के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया, जो तीसरी शताब्दी से दक्षिण में अधिष्ठित शक्ति रह चुकी थी, परन्तु वह शक्ति इससे पहले ही ह्रासोन्मुख हो चुकी थी और छठी शताब्दी के मध्य तक चालुक्यों द्वारा विस्थापित की जा चुकी थी। सातवीं शताब्दी में चालुक्यों ने आन्ध्र में भी अपनी विजय का विस्तार कर दिया और विजयी पुलकेशी द्वितीय के भ्राता विष्णुवर्धन ने वहां पर एक पृथक् वंश की स्थापना की जिसको पूर्वी चालुक्य कहा जाता है। इस कुल ने अनेक शताब्दियों पर्यन्त अपनी स्वतन्त्रता स्थायी रखी। इन्होंने राष्ट्रकूटों का प्रतिरोध किया, जबकि उत्तरोक्त प्रधान

चालुक्य वंश को विस्थापित कर चुके थे । 999 में वे चोलों के सामन्त बन गये ।

जब उत्तरकालीन चालुक्य वंश (जिसकी ख्याति विल्हणवादियों ने की है) का बारहवीं शताब्दी में ह्रास हो गया, तब काकतीय वंश के राजा जो आन्ध्र के पश्चिम भाग में उनके सामन्त थे, 1130 के आसपास स्वतन्त्र हो गये तथा 1200 के आसपास उन्होंने चोलों के ह्रास के पश्चात् आन्ध्र का पूर्वी भाग जीत लिया। तब काकतीयों ने एक शिला नगरी से शासन करते हुए, एक आन्ध्र राष्ट्र का संगठन किया और वहां उन्होंने एक समृद्ध सांस्कृतिक सम्पत्ति दाय के रूप में छोड़ी। दक्षिण भारत पर तुर्क आक्रमणों का आरम्भ तेरहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ और अलावदीन के समय में (1296-1316) उनको अधिकतम सफलता प्राप्त हुई जब गुर्जर तथा मालव जीत लिये गये और महाराष्ट्र के यादव (सेवुण) पराजित हुए। सेवुण राज्य में प्रयाण करती हुई तुर्क सेनाओं ने दक्षिण के अनेक भागों पर धावा किया, और पाण्डवों की राजधानी मधुरा छीन भी ली और कुछ समय के लिए इस पर अपना अधिकार बनाये रखा। उनको होय्सल राजा बल्लाल तृतीय ने वहां से खदेड़ा, परन्तु पीछे से फिर वहां प्रतिष्ठित हो गये जब तक कि विजयनगर का संगठन नहीं हुआ, और उनकी लूट-खसूट शान्त नहीं हुई। काकतीय प्रतापरुद्रदेव ने अलावदीन को परास्त किया जब उसने 1310 में आन्ध्र पर आक्रमण किया था, परन्तु 1326 के आसपास मुहम्मद (मुहम्मद तुगलक जिसका नाम ऊपर तीरभुक्ति पर उसके आक्रमण के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है) द्वारा भेजी गयी सेना से पराजित हुआ और बन्दी बना लिया गया। इस बीच सेवुण राजधानी देवगिरि (तुर्क) राज्य में मिला ली गयी थी और मुहम्मद ने दिल्ली से अपनी राजधानी वस्तुतः वहां स्थानान्तरित कर दी। तुर्कों ने आन्ध्र देश को हस्तगत करना आरम्भ कर दिया। वे इसके धर्म का दमन तथा हर प्रकार का अत्याचार जिसकी संभावना की जा सकती है, किया। (समकालीन आन्ध्र स्रोतों के अनुसार)

प्रतापरुद्रदेव द्वितीय के नियुक्त किये हुए **नायकों** (विषय-पतियों) ने प्रोलय तथा पीछे से उसके भ्रातृव्य कापय के नेतृत्व में प्रतिरोध की व्यवस्था की। वे प्रायः समस्त आन्ध्र को मुक्त करवाने में सफल हुए और उन्होंने होय्सलों को सहयोग भी दिया तथा महाराष्ट्र से भागकर आये हुए शरणार्थियों के साथ और अन्य भारतीय नेताओं को दक्षिण भारत के यथा संभव प्रदेश से निकाल फेंकने के लिए सहयोग दिया। 1368 के आसपास अनवोट जो एक विषय पति था, उसने कापय पर आक्रमण किया और उसका वध कर दिया और एक वंश की स्थापना की जिसका शासन आन्ध्र के अधिकतम भाग पर था। वह अपने कुल नाम राजाचल जिसका सुविख्यात व्यक्ति उसका पुत्र सिंग द्वितीय (1384-99 के आसपास) था, जो एक विख्यात विद्वान तथा आलोचक था।

परन्तु आन्ध्र का दक्षिण-पूर्वी कोना (कृष्णा नदी के दक्षिण में) स्थानीय राजाओं के अधिकार में स्वतन्त्र हो गया। ये अपने आप को राष्ट्रकूट (अथवा जनभाषा में रैड्डी) कहते थे जिन्होंने पहले ही प्रतापरुद्रदेव के अधीन सेवा कार्य किया था। इस कुल के अधिकतम व्यक्तियों ने वेम की संज्ञा धारण की। प्रोलय वेम (1325-53 के आसपास) ने प्रोलय (नायक) की सहायता की परन्तु पीछे जब नायकों का पतन हो गया, उसके पुत्र ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया। अपने भ्राता माच की सहायता से उसने एक तुर्क आक्रमण को परास्त किया और अपनी राजधानी के नाम पर कोण्डवीटि नाम के राज्य की स्थापना की। उसके उत्तरधिकारियों ने इस राज्य का विस्तार किया परन्तु आगे चलकर प्रतिस्पर्धाओं तथा एक ही वंश के ज्ञातियों में गृह-युद्ध के कारण यह वंश दुर्बल हो गया।

1402 के आसपास पेट कोमटि वेम, जिसको प्रायः केवल वेम तथा वीरनारायण भी कहा जाता था, जो कि माच का सीधा वंशज था, अपने पूर्ववर्ती राजा के श्याल (1) कुमारगिरि के काटयवेम के विरुद्ध एक युद्ध के पश्चात् राजा बना। यह एक अपूर्व बात है कि ये दोनों प्रतिद्वन्द्वी वेम संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक हैं। राज्य उनमें विभक्त रहा।

इसी अवसर में विजयनगर के सम्राट् अपने समस्त उत्तर दिशा वाले पड़ोसियों को बलपूर्वक बाधित कर रहे थे और पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम पाद के अन्त तक आन्ध्र उनके तथा कलिंग के बीच विभक्त कर दिया गया। आन्ध्र का दक्षिण भाग विजयनगर का भाग बना रहा और (इसने) अपना दाय, दक्षिण भारत की मुख्य सांस्कृतिक परम्परा को अर्पित कर दिया। तेलुगु भाषा साम्राज्य की मुख्य भाषाओं में से एक बनी रही। प्रथम सम्राट् हरिहर और बुक्क ने स्वयं अपना जीवन प्रतापरुद्र के अधीन स्थानीय राज्यपालों के रूप में आरम्भ किया था और उन्होंने उसी की शासन-व्यवस्था को जारी रखा, विशेषतः नायकों द्वारा स्थानीय शासन। एक अर्थ में वे उसके सच्चे उत्तराधिकारी थे।

समस्त आन्ध्र का यह इतिहास विशेषतः काकतीयों और उनके उत्तराधिकारियों का इतिहास स्थानीय वंशावलियों विषयों के अक्षपटलों तथा प्रवृत दन्तकथाओं जिनमें वह चाटूक्तियां भी सम्मिलित हैं जो विभिन्न राजाओं के चरितों की प्रशस्तियां हैं, (इन सब) में सुरक्षित है। इस प्रकार के पद्य यायावर कवियों की रचनाएं होती थीं जो राजाओं की सभाओं में उपस्थित होते थे और उनमें जो अधिक सफल अथवा हृदयग्राही लोक-परम्पराओं में स्थान प्राप्त कर लेते थे। उनमें से कुछ उत्तर काल में पुष्पाञ्जलियों में संगृहीत कर लिये जाते थे। इस प्रकार का अधिकतम प्रसिद्ध कवि वेम (कोमटि) की सभा में श्रीनाथ था। यह साहित्य अधिक तेलगु में है। इसका विषय

विजयनगर के इतिहास के कुछ भाग तथा स्वयं आन्ध्र के भी कुछ भाग हैं। गत शताब्दी में इन स्रोतों तथा पुराभिलेखों के आधार पर अधिक क्रमानुगत इतिहास तेलुगु भाषा में लिखे गये हैं (उदाहरणार्थ बुक्कपत्तनम् राघवाचर्युल का **तेलगुदेश चरित**—उन्नसवीं शताब्दी का उत्तरतम भाग) तेलुगु साहित्य में ऐसी रचनाएं भी हैं, जो भारतीय इतिहास के अन्य भागों पर भी प्रकाश डालती है। जंकन (पन्द्रहवीं शताब्दी का आरम्भ) का **विक्रमार्कचरित** विक्रमादित्य की पुराकथाओं को नया रूप देकर साहित्यिक शैली में प्रस्तुत करता है। अनन्त (पन्द्रहवीं शताब्दी) के **भोजराजीयम्** में प्रख्यात परमार राजा भोज (ग्यारहवीं शताब्दी) की कथाएं जो (उसकी अपनी विशाल रचनाओं को छोड़कर) अन्यथा रूप में गुर्जर के इतिहासकारों (मेरुतुंग इत्यादि) से ज्ञात हैं, संकलित की गयी हैं। **स्थलपुराण** शैली में रचित पुरातत्त्व के विषय पर तेलुगु भाषा के ग्रन्थ भी विद्यमान हैं। तथा विभिन्न साहित्यिक रचनाओं में उनके लेखकों तथा उनके संरक्षकों के परिवारों पर ऐतिहासिक अध्याय हैं। संस्कृत में आन्ध्र के राजाओं पर उनके राजकवियों द्वारा लिखे गये असंख्य पद्य हैं जो साहित्यक आलोचना के ग्रन्थों में सम्मिलित किये गये हैं। उदाहरणार्थ प्रतापरुद्रदेव द्वितीय पर तथा सिंग द्वितीय पर (लिखे गये पद्य)।

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ में वामन ने वेम (पेट कोमटि) का जीवन-चरित (**आख्यायिका**) लिखा जिसका नाम है **वेमभूपालचरित** अथवा **वीरनारायणचरित**। लेखक अपने आपको 'अभिनव बाण' कहता है और शैली में हर्षचरित के आदर्श का घनिष्ठ अनुकरण करता है। वह वत्स (वात्स्यायन) गोत्र का भार्गव था, ठीक उसी प्रकार जैसे बाण था और इसी हेतु वह अपने आप को विशेष रूप से कुलक्रम के आधार पर, एक इतिहासकार बनने का योग्य अधिकारी, तथा संस्कृत गद्य का अधीश समझता था यद्यपि इस रचना में तथा अन्य रचनाओं में उसकी मुख्य आकांक्षा कलात्मक साहित्य—गद्य, पद्य और नाटक में सफलता प्राप्त करना है। उसने विजयनगर के आध्यात्मिक प्रतिष्ठापक विद्यारण्य से शिक्षा प्राप्त की थी, और वहीं उसने रचनाकार्य भी किया था (उदाहरणार्थ उस नगर के जीवन पर एक व्यंग्यात्मक नाटक लिखा था, और कम से कम एक और नाटक वहां खेला भी गया था। आधुनिक इतिहासकारों ने अभी तक अन्य साहित्यिक स्रोतों की अपेक्षा कम लाभदायक पाया है। संभवतः इसका कारण यह है कि वे उसके लक्ष्य को नहीं समझते जो स्पष्टतः उसके अपने संरक्षक की समस्त अहंमन्तओ को उचित सिद्ध करना था। उत्तरोक्त के पूर्वजों का वर्णन किया गया है—विशेषतः प्रोलय वेम के एक अन्य राष्ट्रकूट कुल की (विक्रमसिंहपुर वर्तमान नैल्लोर-आन्ध्र का सुदूर दक्षिण का भाग) राजकुमारी अनन्ताम्ब के साथ प्रेमाश्रित विवाह का, तथा उनके पुत्रों के जन्म का, विशेषतः माच का, तथा नायक के उत्तरोक्त के सीधे वंशज होने का।

जैसा कि इस प्रकार के जीवन-चरितों में प्राय: होता है, यहां पर उद्देश्य यही है कि राज्याधिकारी के लिए वेम की मांग को पूर्णरूप में वैध सिद्ध किया जा सके जिसके विषय में वस्तुत: विवाद हो चुका था, और कटयवेम द्वारा विवाद किया जाता रहा। सिंहासन पर अपना अधिकार सुरक्षित कर लेने के पश्चात् वेम दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है, जिसका वर्णन वामन ने अधिक अतिशयोक्ति से किया है, और उसके विक्रम के आधार पर उसके पद को और वैध सिद्ध किया है। इस कुल के राष्ट्रकूटों को यहां स्पष्टत: एक कल्पित पूर्वजराजा काम की संतान माना गया है, जिसका किसी अन्य स्रोत से अभी तक चिह्न नहीं मिल सका। संभवत: कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की ओर संकेत है, जिसको काम (प्रेम के देवता) का अवतार माना जाता है। (यदि ये राष्ट्रकूट भी पूर्ववर्तियों की भांति अपने आप को यादव मानते थे)

अध्याय-24

विजयनगर साम्राज्य का इतिहास-लेखन

हरिहर और बुक्क ने अपने आध्यात्मिक गुरु विद्यारण्य जो अद्वैत वेदान्त शाखा (लक्ष्मणशास्त्री द्वारा अपने **गुरुवंश** महाकाव्य जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, में वर्णित कर्णाटक की) के आचार्य थे, (उनके) पथ-प्रदर्शन में विजयनगर की स्थापना की थी। हरिहर और बुक्क भाई-भाई थे। ये संगम के पुत्र तथा काकतीय प्रतापरुद्रदेव द्वितीय के कोषाध्यक्ष थे। इसकी सूचना हमें स्वयं विद्यारण्य ने दी है जिसने विजयनगर की स्थापना तथा इसके प्रथम सम्राटों पर एक महाकाव्य **राजकालनिर्णय** लिखा और अपनी छोटी-सी जीवनी **विद्यारण्यकालज्ञान** की रचना की। जब तुर्क सेना ने प्रतापरुद्र को बन्दी बना लिया (उसका अन्त कैसे हुआ यह ज्ञात नहीं—संभवतः उसने आत्महत्या कर ली) ये दोनों भाई काम्पिली को भाग गये—जो सेवुण राज्य का दक्षिण भाग था जहां कम्पिलदेव, सेवुणों का भूतपूर्व सामन्त तुर्कों की अधीनता स्वीकार नहीं की थी और अपने अधिराज के ऐसा करने पर, अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। परन्तु कुछ वर्ष पश्चात तुर्कों ने कटिबद्ध होकर काम्पिली पर आक्रमण किया और एक घोर और कठोर संघर्ष के पश्चात् कम्पिलदेव पराभूत हो गया और लड़ते-लड़ते मृत्यु को प्राप्त हुआ। दोनों भाई बन्दी बना लिये गये और उन्हें दिल्ली ले जाया गया। (अन्य स्रोतों के अनुसार उनको बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया। तब वे तुर्क सम्राट मुहम्मद के विश्वासपात्र बन गये जिसके परिणामस्वरूप जब दक्षिण भारत में उसके विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह उठ खड़ा हुआ और वह निराश हो गया, तो एक अन्तिम आश्रय के रूप में उसने दोनों भ्राताओं को राज्यपाल नियुक्त करके कम्पिली वापिस भेजने का विचार किया, यह आशा बांध कर कि संभवतः दोनों भाई प्रजा को पर्याप्त समाश्वासन देकर उसके शासन को स्थिरता प्रदान कर सकें) विद्यारण्य केवल इतना ही कहता है कि हरिहर और बुक्क अपने विशुद्ध आचरण से मुहम्मद को प्रभावित करने में सफल हुए, और उसने उनको मुक्त करके उन्हें कम्पिली पर शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया तथा एक सेना के साथ विद्रोहियों का दमन

करने के लिए—विशेषत: होय्सलराजा बल्लाल तृतीय का (जो दक्षिण में बससे अधिक बलवान भारतीय राज्यसत्ता थी) भेज दिया।

परन्तु बल्लाल ने उनकी सेना को परास्त कर दिया जिस पर वे कर्णाटक में जाकर छिप गये और इधर-उधर भटकते रहे जब तक उनकी भेंट, उनकी भावी राजधानी के निकट विद्यारण्य से नहीं हो गयी। इसके लिए सुनिश्चित स्थान का संकेत एक शकुन से मिला। विद्यारण्य के उपदेश से उन्होंने एक सेना एकत्रित की। इस बार उन्होंने अपने ही हित में नहीं अपितु भारत के हित में स्थानीय जनता में से ही सेना का संग्रह किया और बल्लाल को पराजित करने में सफल हुए। उन्होंने अनेगोण्डी (विजयनगर के सामने तुंकभद्रा नदी की उत्तरी दिशा में—पीछे से दोनों को पत्थर के बने एक पुल से मिला दिया गया जिसके खण्डहर अब भी देखे जा सकते) हैं में एक दुर्ग अथवा कोट का निर्माण किया। (संभवत: विद्यारण्य विद्वान् के संमान में अथवा उसी के नाम के प्रसंग में) प्रधान नगर का नाम विद्यानगर 'ज्ञान का नगर' रखा गया तथा (इसको) विजय नगर विजय का नगर भी (कहा जाता था)। विद्यारण्य नगर की स्थापना की तिथि मई 1336 में बताता है। प्रतीत होता है अब बल्लाल तृतीय ने एक नयी शक्ति का अस्तित्व स्वीकार कर लिया था, अथवा वह मैत्री करने के लिए सहमत हो गया था। तत्पश्चात् उसने दक्षिण की ओर अभियान किया और साहसी तुर्क आक्रमणकारियों का उच्छेदन आरंभ कर दिया। उनकी पर्याप्त सेना अभी भी पाण्ड्य देश में छिपकर घुसी बैठी थी। उसने 1342 में उनको पराजित किया परन्तु उन्होंने युद्ध-विराम की याचना की, और बल्लाल ने मूर्खता से यह स्वीकार कर ली। तब उन्होंने एक चाल से उसको पकड़ लिया और उसका वध कर दिया। उसकी सेना भ्रान्त होकर वापिस लौट आई। उसका पुत्र बल्लाल चतुर्थ उसका उत्तराधिकारी हुआ, परन्तु कर्णाटक में अनेक राजपुरुष इस अवसर से लाभ उठाकर विजयनगर में हरिहर के अनुयायी बन गये। बल्लाल चतुर्थ ने दक्षिण के संघर्ष को वहीं छोड़ा और हरिहर के विरुद्ध अभियान किया, परन्तु उसकी पराजय हुई और 1348 तक पूर्वभूत समस्त होय्सल साम्राज्य विजयनगर के शासन में आ गया।

हरिहर को उपदेश देने में विद्यारण्य का उद्देश्य (और निस्सन्देह कर्णाटक में उसके लिए सहायता को प्रगति देने के लिए) वैदिक धर्म का समर्थन करना था। अपनी जीवनी में वह हमें काव्य की शैली में बताता है कि अपने जीवन के आरंभिक काल में जब वह विन्ध्याचल में था तब पुरातन ऋषि वेद व्यास जो परम्परागत विश्वास के अनुसार वैदिक संहिताओं का संकलन-कर्ता, तथैव प्रथम इतिहासकार और विद्या की सब शाखाओं में प्रवीण माना जाता है, उससे मेरी भेंट हुई। व्यास ने एक पार्वतीय गण के सदस्य (किरात) का रूप धारण किया हुआ था और उसके साथ चार कुत्ते थे जो कि वस्तुत: चारों वेद थे। व्यास विद्यारण्य का आचार्य

बन गया, और उसको निर्देश दिया कि वह एक नगर बसाये और उसमें एक राज्यसत्ता की स्थापना करे। उसे विरूपाक्ष (देव शिव) से अतिरिक्त आदेश मिले। इसके पश्चात् वह सायण और माधव (दो) विद्वानों से मिला और यथा समय सायण से सब वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य लिखने के लिए अनुमति ले लो (जो तब से लेकर आदर्श माने जाते हैं) विद्यारण्य ने अपने जीवन में हरिहर के पश्चात् जिसका कोई पुत्र न था, बुक्क का राज्याभिषेक और उसके पश्चात् उसके पुत्र हरिहर द्वितीय का अभिषेक (1377 में) देखा।

साम्राज्य का संगठन कर लेने के शीघ्र पश्चात् हरिहर प्रथम और बुक्क, पाण्ड्य में तुर्क शासन के समूल उच्छेदन में व्यग्र हो गये। यह कार्य होय्सलों ने अधूरा छोड़ दिया था। सर्व प्रथम विजयनगर का अधिकार पल्लव प्रदेश पर बढ़ाया गया। तब बुक्क के पुत्र राजकुमार कम्पन को एक सेना देकर भेजा गया कि वह मधुरा को मुक्त करवाए और इस कार्य को सम्पन्न करे। कम्पन विजयी हुआ और उसने युद्ध में तुर्क सुलतान (सुरत्राण) का वध कर दिया और सुदूर दक्षिण को विजय नगर के शासन में ले आया। उसकी विजय का वर्णन उसकी पत्नी राजकुमारी गंगा ने एक मनोहर महाकाव्य में किया है। यह महिला अपने आपको क्रियाशक्ति की जो विद्यारण्य का शिष्य था, शिष्या कहती है, जबकि साहित्य वह प्रतापरुद्र द्वितीय की राजसभा के महान लेखकों की परम्परा का अनुकरण करती है तथा तेलुगु कवि त्रिक्कय (विक्रमसिंहपुर का) जिसने तेलुगु **महाभारत** का अधिकतर भाग लिखा था, (उस) की प्रशंसा करती है। यह स्पष्ट है कि वह **महाभारत** के प्रति उच्चतम आदर का भाव रखती है, जिस प्रकार कल्हण तथा अन्य इतिहासकार करते थे। इसके साथ ही वह अपने समय के नवीन रूपान्तरों का भी (उतना ही आदर करती है) (इनमें अगस्त्य विद्यानाथ और गंगाधर का नाटक भी शामिल है)।

अपने **मधुराविजय** (अथवा **वीरकम्पराय चरित**) में गंगा पहले नायक के पिता बुक्क तथा विजयनगर के शहर का वर्णन करती है। तदनन्तर कम्पन के जन्म (का वर्णन) आता है। कम्पन जब शिशु ही था तो इसके शरीर पर ऐसे चिह्न अंकित थे जिनका अर्थ यह था कि वह विष्णु का अवतार है। उसके यौवन का वर्णन किया गया है जब बुक्क ने उसका विवाह सम्बन्ध (कई) राजकुमारियों से स्थापित किया जिनमें गंगा स्वयं मुख्य पत्नी थी। तब बुक्क ने अपने पुत्र को एक दीर्घ नैतिक और राजनीतिक उपदेश दिया और एक सेना के साथ सर्वप्रथम पल्लव देश (कांची में) पर उसका अधिकार स्थापित करने के लिए भेजा और तब तुर्क (तुरुष्क) का भंग करने के लिए। तुर्क रावण की भांति है और राजकुमार को राम की भूमिका निभानी होगी। पांच या छः दिनों में कम्पन ने कर्णाटक पार कर लिया और तब दो युद्धों में दो स्थानीय तमिल राजाओं की, जिसने उसका

सामना किया, सेनाओं पर आक्रमण करके उनको परास्त किया। तब उसने अपना शासन 'मरकत नगर' (कांची) में स्थापित किया और सुचारु रूप से राज्य किया। यहां पर कुछ समय के लिए उसने कलाओं को संरक्षण प्रदान किया, मृगया के लिए प्रयाण करता तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में अपनी पत्नियों के साथ विहार करता था। उसने गंगा को बुलाया कि उसके सामने तत्काल रचित पद्यों में रात्रि का वर्णन करके अपने काव्य-कौशल का प्रदर्शन करे।

इसके पश्चात् तुर्कों द्वारा अधिष्ठित देश की विध्वस्त अवस्था का आंखों देखा वर्णन, एक स्त्री, कम्पन के सामने करती है। देवालयों के खण्डहर हो गये हैं। कावेरी नदी ने अपने तटों का भंग करके देश को जलप्लावित कर दिया है। देवालयों की भेरी के स्थान पर शृंगालों की भयंकर चिल्लाहट का नाद सुनाई पड़ता है। जिन ग्रामों में ब्राह्मण निवास करते थे, वहां यज्ञों के धुएं और वेदोच्चारण का स्थान कच्चे मास की गंध तथा उन्मत्त तुर्कों के गर्जन ने ले लिया है। मधुरा की नारियल की वाटिकाएं काट डाली गयी हैं और उनके स्थान पर शूलियों की पंक्तियां हैं जिन पर मनुष्यों की खोपड़ियां आरोपित हैं। राजमार्ग पर नूपुर ध्वनि का स्थान ब्राह्मणों के आयस-बन्धनों की कर्कश झंकार ने प्राप्त कर लिया है। तुर्कों के नर-संहार से शेष रह गये व्यक्ति दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं। विद्वत्ता, सुराज्य, गुण-विवेचन, सदाचार, शुभ कर्म, सौजन्य, ये सब लुप्त हो गये हैं। तमिल जनता दयनीय दशा में है और वह राजकुमार का, तुर्कों का नाश करने के लिए और उनका परित्राण करने के लिए आह्वान करती है और साथ ही एक भयंकर कृपाण उसके हाथ में देती है, जिसके सम्बन्ध में वह यह सूचना देती है कि यह पाण्ड्य के राजा की थी। यह कम्पन के हाथ में अतिमानुषिक हस्तक्षेप से आयी है और यह इस बात का संकेत है कि वह अब इस देश पर राज्य करेगा। तुर्कों के साथ युद्ध (का वर्णन) जो इसके पश्चात् आता है, महाकाव्य की चरम सीमा है और युद्ध की पराकाष्ठा कम्पन और तुर्क सुलतान के बीच आयोधन है जिसमें नायक पाण्ड्यराज की कृपाण से म्लेच्छ का सिर काट डालता है। युद्ध का वर्णन प्रायः रूढ़ पद्धति में है, जिसका आदर्श प्राक्तन महाकाव्य है। राजलक्ष्मी ने कम्पन को पति रूप में वर लिया है और पीड़ित देश में शान्ति पुनः स्थापित कर दी गयी है। शेष बच रहे तुर्कों ने आत्म-समर्पण कर दिया है।

हरिहर द्वितीय के पुत्र देवराय प्रथम (1406-22) के राज्यकाल में विजय नगर साम्राज्य शक्ति और विस्तार के चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया। आन्ध्र प्रदेश का विभाजन कलिंग के साथ मिलकर कर लिया गया जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है और महाराष्ट्र में तुर्कों के सब आक्रमण परास्त किये जा चुके थे। विरूपाक्ष द्वितीय के समय में (1465-85) थोड़ा ह्रास हुआ। विजयनगर पूर्वी समुद्र तट का प्रदेश वहां पर पराजित होने के पश्चात्—कलिंग के हाथों खो बैठा

और तदनन्तर पश्चिम तट पर कुछ प्रदेश तुर्कों के हाथ खोया। पूर्व में आन्ध्र प्रदेश के दक्षिणतम भाग पर सालुव विजयनगर के राज्यपालों के रूप में शासन कर रहे थे, जो कि कम्पन के एक सेनापति के वंशज थे। नरसिंह सालुव ने जिसके शासन का आरम्भ 1456 में हुआ, अपने राज्य का विस्तार किया और जैसे ही केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हुई, उसने अपनी स्थिति दृढ़ बना ली और कलिंग के विस्तार को रोक दिया। तब वह तुर्कों के साथ संघर्ष में आया और उनको पराजित किया। विरूपाक्ष जो राजनीतिक तथा सैनिक दृष्टि से दुर्बल दिखाई देता था, उसका 1485 में वध कर दिया गया, जिसके पश्चात् विजयनगर में खलबली मच गयी यह देखकर नरसिंह को यह उचित लगा कि संगम वंश को निरस्त कर दे और वह स्वयं साम्राज्य की पुनर्व्यवस्था बनाए। इस प्रकार उसने सालुव वंश की स्थापना की और साम्राज्य पर 1486 से 1491 तक शासन किया।

नरसिंह के इतिहास का आरम्भिक भाग एक संस्कृत महाकाव्य में जिसके लेखक डिंडिम कुल के राजनाथ द्वितीय थे, अभिलिखित है। इस **सालुवाभ्युदय** में नरसिंह के पूर्वजों के कृत्यों का पर्यालोचन किया गया है और तब कलिंग तथा तुर्कों के साथ लड़े गये युद्धों का वर्णन है। यह स्पष्ट है कि यह महाकाव्य नरसिंह के सम्राट् पद प्राप्त करने से पहले लिखा गया था और यह उसके साथ ही समाप्त हो जाता है, जिस समय वह अपने राज्य में राजलक्ष्मी का उपभोग कर रहा था और सामर्थ्य युक्त स्वतन्त्र तथा शक्तिशाली था। सालुव वंश चिरकाल तक नहीं चला, यद्यपि इसने साम्राज्य की समृद्धि पुनः स्थापित कर दी। जब नरसिंह का देहान्त हुआ तो उसने अपने तुलववंशीय नरस या नरसिंह को सेनापति को राजस्थानीय नियुक्त करके अपने बालक पुत्रों को उसके संरक्षण में छोड़ा। राजस्थानीय ने सारी शक्ति अपने हाथ में कर ली और सालुवों को राज्य नहीं करने दिया यद्यपि उसने साम्राज्य को शक्तिशाली बनाए रखने के लिए उनके पिता के आदेश का पालन किया। उसके पुत्र वीरनसिंह ने इन्हीं नीतियों का अनुसरण किया और 1505 में वह अपने आपको खुलकर सम्राट् घोषित कर सका, जब अन्तिम सालुव का वध कर दिया गया। उसका उत्तराधिकारी उसका वैमात्र कृष्णदेवराय (1509-29) हुआ, जिसको विजयनगर के सम्राटों में प्रायः सर्वाधिक यशस्वी माना जाता। कृष्णदेवराय ने कलिंग और तुर्कों को पराजित किया और विजयनगर की पहली सीमाओं की पुनरावृत्ति की। परन्तु उसका अधिकतम यश कला तथा साहित्य के संरक्षक के रूप में तथा स्वयं संस्कृत और तेलुगु के महान् लेखक होने में है। उसकी विजयों का वर्णन एक तेलुगु रचना **कृष्णदेवराय विजयमु** में कुमार धूर्जटि द्वारा किया गया है।

भारतीय धार्मिक आचार्यों, विख्यात दार्शनिकों तथा अन्य पुरुषों जो अनिवार्य रूप से राजनीति से सम्बन्ध नहीं रखते थे। यद्यपि वे कभी-कभी सामाजिक तथा

सांस्कृतिक इतिहास पर प्रबल प्रभाव डालते थे, की अनेक बड़ी-बड़ी जीवनियां हैं जो इतिहास से लेकर पुराकथा पर्यन्त विभिन्न स्वरूपों में हैं। नियम रूप से इस सर्वेक्षण में हमने इनकी ओर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे हमें अपने क्षेत्र से बहुत दूर ले जाएंगी। परन्तु कुछ एक स्थितियों में जहां पर ऐसे व्यक्तियों ने राजनीतिक घटनाओं में सीधा भाग लिया है, ये रचनाएं तत्त्वतः ऐतिहासिक बन जाती हैं। उदाहरण के रूप में विद्यारण्य हैं जिनके विषय में हम ऊपर विजयनगर की स्थापना के सम्बन्ध में कह चुके हैं। एक और उदाहरण व्यासतीर्थ या व्यासराय का है जो मध्व द्वारा प्रस्थापित द्वैत वेदान्त के दार्शनिक, मूलतः तार्किक थे। वह सालुव नरसिंह तथा कृष्णदेवराय सहित विजयनगर के राजाओं का अच्युतराय पर्यन्त समकालीन था। वह उनकी राज सभा में उपस्थित रहता था और एक प्रकार से साम्राज्य के आध्यात्मिक अध्यक्ष के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी की अशीतियों में किसी समय से 1539 में अपनी मृत्यु पर्यन्त कार्य किया। इसी हेतु सोमनाथ के लिखे हुए उसके जीवन-चरित—**व्यासयोगिचरित** में (शैली की दृष्टि से आख्यायिका और चम्पू की सीमा-रेखा पर) उस समय का इतिहास प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। बाण और वामन की भांति सोमनाथ वत्स (गोत्र का) था और इस प्रकार वह कुलक्रम से भारतीय इतिहासकारों की एक प्राचीन शाखा से सम्बन्ध रखने का आग्रह कर सकता है। वह इस बात का भी उल्लेख करता है कि उसके पूर्वजों में से एक ने सम्राट बुक्क का संरक्षण प्राप्त किया था और इस प्रकार विजय नगर के राजाओं के साथ एक प्राचीन पारिवारिक सम्बन्ध जतलाता था। उसका जन्म कांची के निकट हुआ था और परम्परागत सूचना के अनुसार वह अनन्त का भतीजा था जिसने 1500 के आस-पास संस्कृत के चम्पू ग्रंथों में सर्वाधिक लोकप्रिय **भारतचम्पू** लिखा था जिसमें **महाभारत** की कथा का पुनर्वर्णन है। हम पुनः विजयनगर में **महाभारत** का प्रभाव देख रहे हैं।

व्यासयोगिचरित का आरम्भ हिमालय में व्यास के आश्रम से होता है। (इस पुरातन ऋषि को अमर माना जाता है जो वहां पर पृथ्वी और स्वर्ग के बीच पर्वतों पर निवास करता है।) मुनियों का एक वर्ग पृथ्वी पर तत्काल विद्यमान पाप की परिदेवना करता है। वह उन्हें कहता है यद्यपि मध्व ने संसार को वैदिक सिद्धान्त पर एक विशुद्ध भाष्य लिखकर, मुक्ति का मार्ग दिखा दिया है, परन्तु दुर्भाग्यवश समय की गति के साथ इस पर आवरण छा गया है। परन्तु शीघ्र ही एक बालक का जन्म होगा जो इस स्थिति का सुधार कर देगा। अतः उन्हें त्रस्त नहीं होना चाहिए। मुनि, व्यास को दण्डवत प्रणाम करते हैं और प्रसन्नतापूर्वक लौट आते हैं। तत्पश्चात् बालक के माता-पिता का वर्णन किया गया है जो एक अनुरूप ब्राह्मण दम्पती है। फिर उसके जन्म तथा शिक्षा (का वर्णन है)। वह एक द्वैत आचार्य मुनि के चरणों में अध्ययन करता जो उसे भी एक तपस्वी बनाकर

व्यास (ऋषि) के नाम पर उसका नाम भी व्यास रख देता है। तब यह ऋषि व्यास भ्रमण पर निकल जाता है और यथाकाल कांची तथा अन्यत्र अध्ययन करता है। अन्त में उसके आचार्यों में से एक उसको नरसिंह (सालुव) की राज सभा में उसकी राजधानी महाचल में (जो तिरुपति के निकट है,) जाने का उपदेश देता है। यद्यपि वह तपस्वी है, वह राज सभा में रह सकता है यदि यह संसार के कल्याण के लिए हो। यह कहा गया है कि राजा सचमुच धर्म का सेतु है (या गुणों का-धर्मों का) यदि उसको सदुपदेश मिलता हो और वह सत्य और न्याय का अभ्युदय करता हो। वह चला जाता है और वहां जाकर शिक्षण कार्य करता है और नरसिंह के साथ धर्म पर वार्तालाप करने में बहुत-सा समय व्यय करता है। वह न्यायशास्त्र (तीरभुक्ति से आनीत) नव्यन्याय के अध्ययन में भी समय का उपयोग करता है।

सोमनाथ के अनुसार (चतुर्थ अध्याय का अन्त) कुछ वर्षों के पश्चात् नरसिंह ने अपने पुत्र माराय को सम्राट् अभिषिक्त कर दिया और तब उसने स्वर्गारोहण किया। व्यास योगी चिरकाल पर्यन्त नये राजा के साथ महाचल में रहा और तब राजा नरस के महामात्यों के निमन्त्रण पर विद्यापुरी (विजय नगर) को चला गया। सोमनाथ ने माराय और नरसिंह के परस्पर सम्बन्ध को विशद रूप में प्रकट नहीं किया, परन्तु वह सीधा साम्राज्य के नगर, विजयनगर के सौन्दर्य का वर्णन आरम्भ कर देता है। तपस्वी को नरस से सम्मान मिलता है और तब वह विविध देशों से आये हुए विद्वानों के साथ वाद-प्रतिवाद में व्यस्त हो जाता है जिनमें वह उन सब पर विजय प्राप्त करता है और उसका यश चारों दिशाओं में फैल जाता है। इस प्रकार वह विजय की लक्ष्मी का पाणिग्रहण करता है जो उसको अपना पति वर लेती है। दूसरे शब्दों में नायक, राजा-नायकों की भांति जिनको हम ऊपर देख आये हैं, चारों दिशाओं की विजय में सफल हो जाता है और वह लक्ष्मी से संयुक्त हो जाता है। केवल इस प्रसंग में उसका चरित सैनिक तथा राजनीतिक के स्थान पर दार्शनिक का है। परन्तु इस जीवन चरित का अन्त यहीं नहीं हो जाता, परन्तु यह आगे चलता है। व्यास योगी, वीर नरसिंह तथा कृष्ण (कृष्णादेवराय) के राज्यकाल में एक विख्यात आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित रहता है। उसके सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ जो उसने उस समय लिखे, उल्लिखित किए गये हैं। उसकी 'सरस्वती पीठ' की अध्यक्षता (का वर्णन भी है), (विद्या की देवी के, यह **सरस्वती पीठ** (वर्तमान) पाश्चात्य विश्वविद्यालय में मुख्य प्राध्यापक अथवा अध्यक्ष के समकक्ष प्रतीत होता है। विजयनगर में विद्यालय (मठ) देवालयों के साथ सम्मिलित किये जाते थे) कलिंग के राजा विद्याधरपात्र द्वारा सम्राट् कृष्ण को भेजे गये एक वृहद्ग्रन्थ का उल्लेख है जो मूल्यांकन के लिए इस (तपस्वी) के पास भेज दिया गया। अन्तिम अध्याय में सम्राट्

कृष्ण व्यास का साम्राज्य के (वंश के कहना अधिक उचित होगा) अधिदेवता के रूप में (जल के स्थान पर) मणियों से अभिषेक करता है। क्योंकि धर्मपरायण लोक ब्राह्मणों को भूदेव मानते थे, इसलिए इस प्रकार की कल्पना असाधारण नहीं है। केवल कृष्ण का अपने प्रेम पात्र आचार्य को विशेषता प्रदान करने के लिए, मणियों का प्रयोग करना अवेक्षणीय है (तत्पश्चात् व्यास ने वे मणियां दूसरे विद्वानों में बांट दीं) सोमनाथ के चम्पू की वास्तविकता चरम सीमा यही है, जो शीघ्रता से समाप्ति की ओर अग्रसर होता है—कृष्ण स्वर्ग को चला जाता है। अच्युत उत्तराधिकार प्राप्त करता है और एक वर्णन इस विषय का भी है कि लेखक का परिचय अपने वयोवृद्ध नायक से किस प्रकार हुआ और इस कारण उसने यह जीवन-चरित लिखा। यह ग्रन्थ (बाण के हर्षचरित की भांति) सुनिश्चित रूप से एक काव्य है और मनोहर रचना से परिपूर्ण है जो सावधानी से चुनी गयी सुसंस्कृत शैली में लिखी गयी है। इसका समय 1535 के आसपास है।

अच्युतराय (1529-42) जो कृष्ण का वैमात्र भ्राता था, के राज्य काल के लिए हमारे पास दो समकालीन संस्कृत ग्रन्थ हैं जो तुलुव वंश का भी वर्णन करते हैं। राजकुमारी तिरुमलाम्बा लालित्यपूर्ण चम्पू **वरदाम्बिकापरिणय** में कुल का वंश-वृक्ष, मूल चन्द्रवंश की एक शाखा के रूप में प्रस्तुत करती है। तब नरस के चरित का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करती है। वह विद्यापुरी (विजयनगर) में प्रवेश करता है और इस प्रकार महाराजाधिराज बन जाता है। इसके पश्चात् वह पूर्ण तथा दक्षिण में अभियान करता है जिससे कि वह अपने शासन को विद्रोही सामन्तों के विरुद्ध संगठित कर सके। कावेरी नदी के ऊपर सैनिक दृष्टि से महत्त्व रखने वाले उसके द्वारा एक पुल के निर्माण का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। वह तुर्क सुलतान (सुरत्राण अर्थात् दक्षिण महाराष्ट्र के) को पराजित करता है। उसके विवाह का वर्णन है, जिससे अच्युत का जन्म होता है। चम्पू की प्रधान कथा-वस्तु जिसके आधार पर इसके शीर्षक का नाम रखा गया है, सलग राजकुमारी वरदाम्बिका का अच्युत के साथ विवाह है। उनके पुत्र वेंकटाद्रि के युवराज अभिषिक्त हो जाने के पश्चात् यह (चम्पू) समाप्त हो जाता है।

राजनाथ तृतीय डिण्डिम (राजनाथ द्वितीय के पौत्र) ने अच्युत पर एक ऐतिहासिक महाकाव्य **अच्युतरायाभ्युदय** लिखा। वह तुलुव वंश का उदगम प्राचीन चन्द्रवंशी राजाओं की तुर्वसु शाखा से मानता है। नरस के राज्यकाल का पुनः कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है। वीरनरसिंह तथा कृष्णदेवराय के शासन कालों का कुछ वृत्तान्त देकर, राजनाथ अपने संरक्षक अच्युतराय पर आता है। राजनाथ पर्याप्त विशुद्ध इतिहास-लेखक है, क्योंकि जिन घटनाओं का उसने वर्णन किया है उनमें से अधिकतम की पुष्टि पुराभिलेखों से हो जाती है। वह नये

सम्राट् के राज्याभिषेक से आरम्भ करता है। अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि दो राज्याभिषेकों से—एक जो विष्णु (वेंकटेश्वर) की उपस्थिति में तिरुपति में हुआ और दूसरा राजधानी विद्यापुरी में। तत्पश्चात् एक अमात्य विद्रोह की सूचना लाता है कि कुछ अधीन राजा अपना कर नहीं दे रहे हैं। सम्राट् अपनी राजधानी से युद्ध-यात्रा पर निकल पड़ता है और दक्षिण में भिन्न-भिन्न स्थानों को अपना शासन स्थापित करने के लिए सेनाएं भेजता है। कुछ और शान्तिपूर्ण वर्णनों के पश्चात् जो कि महाकाव्य में विविधता प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक हैं, अच्युत पुनः युद्ध-यात्रा पर निकलता है। कुछ सामन्तों से सम्पत्ति (कर तथा उपायन) उपार्जित करता है, तब उत्तर दिशा की ओर बढ़ता है और हयपति (सुलतान) की सेनाओं से जूझता है। वे पराजित होकर पीछे हटती हैं। अनेक पराजयों के पश्चात् सुलतान सन्धि की याचना करता है और अच्युत उसकी विधेयता प्राप्त करके विजयी होकर अपनी राजधानी को लौट आता है। महाकाव्य के अन्तिम सर्ग में उसके विजयनगर में प्रवेश करने का वर्णन है, जिसका अधिकतम अंश उसको विभूति-युक्त देखने के लिए नगर-स्त्रियों के वेग से बाहर निकलने के (दृश्य का चित्र है) (यह महाकाव्य का विशिष्ट विषय है) इस प्रकार कवि इसकी समाप्ति करता है। अच्युत पृथ्वी का पालन करता है जो कि उसकी **साम्राज्य-लक्ष्मी** है। **अच्युतरायाभ्युदय** सुरम्य, सरल तथा स्वाभाविक शैली में रचित यथार्थ महाकाव्य है जिसमें वृत्तान्त के समस्त कथनोपकथन आसानी से समाविष्ट किए गए हैं।

विजयनगर पर अन्य ऐतिहासिक रचनाओं में हमें बसव के विश्वकोष **शिवतत्त्वरत्नाकर** के ऐतिहासिक खण्ड (अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में) तथा अज्ञात लेखक की **विभागरत्नमाला** (जो प्रातः उसी समय की है) जो कि डिण्डिम वंश का इतिहास है जिसको एक चोल सम्राट् वाराणसी से दक्षिण में लाया था और जो उत्तर काल में विजयनगर के सम्राटों को राजकवियों की अनुपूर्वी प्रस्तुत करती रही, का उल्लेख करना चाहिए। उत्तरोक्त ग्रन्थ से यह प्रकट होता है कि डिण्डिम, ब्राह्मण गोत्रों के भृग्वांगिरा वर्ग से सम्बन्धित थे।

अच्युतराय के राज्यकाल के पश्चात् विजयनगर अथवा कर्णाटक साम्राज्य का ह्रास हो गया। इसके प्रादेशिक राज्यपाल (**नायक**) यथा समय धीरे-धीरे स्वतन्त्र होते चले गये। संस्कृत, तेलुगु तथा तमिल में अनेक प्रकार के ऐतिहासिक ग्रन्थ इस काल की घटनाओं का, सोलहवीं शताब्दी के मध्य से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य पर्यन्त उल्लेख करते हैं, जिसके अवसान पर एक राजनीतिक सत्ता के रूप में साम्राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह गया था। राज्यपालों (नायकों) की कुल-क्रमागत श्रेणियों में तंजनगर (तांजावूर-तंजौर) तथा मधुरा (मदुरै) प्रमुख हैं।

ये दोनों तमिल देश में हैं। हम पहले ही, ऊपर, तमिल में लिखे **मदुरैत्तलवरलारु** का उल्लेख कर चुके हैं जो मदुरै के बृहद् देवालय का इतिहास है और जो इस काल के लिए प्रमुख स्रोतों में से एक है। 1675 में मराठा राजाओं ने विजयनगर के सम्राटों को विस्थापित करके दक्षिण भारत में, अधिराज्य प्राप्त कर लिया।

अध्याय-25

कलिंग (उड़ीसा) में इतिहास-लेखन

कलिंग (आधुनिक उड़ीसा) गुप्त साम्राज्य का एक भाग रह चुका था। जब साम्राज्य का ह्रास होने लगा और तब भी जब यह अभी उन्नति के शिखर पर थी, भारत के पूर्वी तट पर नीचे की ओर जो कि नदियों, पहाड़ियों तथा वनों द्वारा विच्छिन्न हुआ होने के कारण राजनीतिक विखण्डन की प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है, भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थानीय राजाओं ने स्वतन्त्र हो जाने के प्रयत्न किये। इनमें कलिंग के दक्षिण भाग में, पांचवीं शताब्दी में माठर प्रमुख थे। 496 में उनका स्थान गंग राजाओं की एक शाखा ने, जिसका उद्‌गम, अनुमानत: (परन्तु निश्चित रूप से नहीं) कर्णाटक और कोंगु का गंग वंश था। (परन्तु दक्षिण के गंग अपने आपको काण्वायन गोत्र के बतलाते थे। पूर्वीय अथवा कलिंग के गंग आत्रेय गोत्र के बतलाते थे) परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि क्या वे उत्पत्ति से स्वयं ब्राह्मण थे अथवा उन्होंने यह गोत्र संज्ञा अपने पुरोहितों से प्राप्त की थी। पूर्वी गंग वंश ने कलिंग पर लगभग एक सहस्र वर्ष राज्य किया जो (496-1435, यथार्थत: 939 वर्ष) कि संभवत: उसी प्रदेश पर (शासन करने का) एक वंश की दीर्घकालीन तथा अजस्र स्थिति का ध्रुव निदर्शन है।

कलिंग में पर्याप्त ऐतिहासिक साहित्य सुरक्षित किया गया। कुछ संख्या में **वंशावलियां** हैं, कुछ संस्कृत में (एक पुरी में सुरक्षित है जो संभवत: सोलहवीं शताब्दी में लिखी गयी अथवा उसका पुनरीक्षण किया गया) और बहुत-सी उड़िया में हैं। अक्षपटल देवालयों में रखे जाते थे और उनमें से कुछ बच रहे हैं जैसे कि पुरी के बृहद्देवालय में। **वंशावलियों** का संकलन करने वालों के लिए तथा अन्य ऐतिहासिक रचनाओं के लिए ये प्राथमिक स्रोत थे। पुरी के अक्षपटलों से उड़िया में लिखी **मदालपांजी** का संकलन, महत्त्वपूर्ण कार्यों के नियमपूर्वक लिखित पुरावृत्तान्त के रूप में किया गया, जिसका एक खण्ड, **राजचरित्र** राजाओं के विषय पर है। ऐसा विश्वास है कि इस पुरावृत्तान्त का आरम्भ गंग राजा अनन्तवर्मा चोड़गंग के आदेश पर बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में किया गया था और तब

से लेकर यह अद्यतनीय रखा गया है। इसकी हस्तलिखित प्रतियां देवालय से सम्बद्ध पुरोहित अपने पास रखते हैं और कभी-कभी उनके विशिष्ट वर्णनों में भेद होता है। एक संस्कृत **काव्य** रचना जिसमें पुरावृत्तान्त की वस्तु को कलात्मक रूप दे दिया गया है, वासुदेवरथ का **गंगवंशानुचरित** (गंग वंश का इतिहास) है जो एक **चम्पू** है। कलिंग के तीर्थ स्थानों पर संस्कृत में कई एक **माहात्म्य** हैं।

ये परम्परागत विवरण कलिंग के इतिहास का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जो इससे भिन्न है कि गंग राजाओं ने दक्षिण से अपनी शक्ति का धीरे-धीरे समस्त कलिंग पर प्रसार कर लिया। यथार्थतः वे पुरी के दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं, जो कि देश के उत्तरीय भाग में है। उनके लिए गंग वंश का आरम्भ केवल बारहवीं शताब्दी के पूर्व काल में होता है जब अनन्तवर्मा पंचम ने उत्तर को जीत लिया। इससे पहले केशरी या चन्द्रवंश (सोम वंश) हो चुका था, जो भुवनेश्वर के भव्य देवालयों का निर्माण करने वाले थे और जिसकी स्थापना के विषय में कहा जाता है कि 474 में यह ययाति ने की थी। यह तिथि अमान्य प्रतीत होती है। अधिक संभावना यह है कि इस ययाति की पहचान उस राजा के साथ की जानी चाहिए जिसके पुराभिलेख प्राप्त हो चुके हैं और जिनका समय दशम शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित किया जाना चाहिए। परम्परागत वृत्तान्त में केशरी वंश की स्फीति इसलिए की गयी प्रतीत होती है क्योंकि इसमें विक्रमादित्य के ईषु पूर्व प्रथम शताब्दी में मानकर उसके समय का अयथार्थ निर्णय किया गया था। यह मान लिया गया कि विक्रमादित्य ने कलिंग पर तथा समस्त पृथ्वी पर, पूर्ववर्ती सम्राटों की एक श्रेणी के पश्चात् जो भा"त युद्ध तथा युधिष्ठिर तक पहुंचती है, राज्य किया। यह (भी) माना जाता है कि सातवाहन ने जिसका नाम शकादित्य भी है (सातवाहनों को भ्रान्ति से शकों के साथ मिला दिया गया है) विक्रमादित्य को पराजित करके उसका वध कर दिया। उत्तरोक्त का उत्तराधिकारी क्रमादित्य था, (यह नाम जो कि यथार्थ रूप में विक्रमादित्य का पर्याय है, कभी-कभी स्कन्दगुप्त के लिए भी प्रयुक्त हुआ है) जिसके उत्तराधिकारी कुछ राजा हुए जो अन्यथा ज्ञात नहीं प्रतीत होते। इनमें से अन्तिम पर यवनों (Greeks) ने विजय प्राप्त की (यह अनुमान किया गया है और इसकी पर्याप्त सम्भावना भी है, कि इस नाम का अभिप्राय वस्तुतः मुरुण्डों से है—जो शक राजाओं की एक शाखा थी जो मगध पर, प्रायः कुषाणों के सामन्तों के रूप में, ईषु पश्चात् पहली तीन शताब्दियों में शासन करते थे। सातवाहनों के पश्चात् आने वाले राजाओं में पुराण तेरह मुरुण्डों के एक वंश का उल्लेख करते हैं जिन्होंने तुषारों के तुरन्त पश्चात् दो शताब्दी राज्य किया। उत्तरोक्त सम्भवतः कुषाण थे। वस्तुतः यह प्रतीत होता है कि इन तीनों वंशों ने लगभग एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थानों पर राज्य किया। उनकी राजधानियां क्रमशः प्रतिष्ठान,

पाटलीपुत्र और मथुरा थीं)।

इस समस्या का विश्लेषण करते हुए यह प्रतीत होता है कि कलिंग के पराम्परागत वृत्तान्तों में यह अभिलिखित है कि विख्यात प्राचीन सम्राटों अर्थात् पौरव तथा अन्यों के पश्चात् देश पर सातवाहनों का शासन था और तत्पश्चात् मुरुण्डों का (उत्तरोक्तों ने पूर्वोक्तों को कलिंग से शायद प्रथम शताब्दी ई० प० में, विस्थापित किया) गुप्तों या विक्रमादित्य तथा उसके उत्तराधिकारियों ने (उत्तरोक्त वस्तुतः महेन्द्रादित्य, (वि)क्रमादित्य इत्यादि) तब मुरुण्डों का आगमन हुआ। गुप्तों के पश्चात् संभवतः किसी व्यवधान के बिना केशरी आये (उत्तर कालीन गुप्त मगध में आठवीं शताब्दी पर्यन्त राज्य करते रहे। ययाति केशरी के पूर्वजों के विषय में हमें इतना ज्ञान है वे कि उत्तरीय महानदी घाटी में, कम से कम उस समय से एक राज्य पर शासन करते रहे।) जब विक्रमादित्य के लिए प्रथम शताब्दी ई० प० में एक तिथि स्वीकृत हो गयी, तो कलिंग के परम्परागत-वर्णन में समस्त गुप्त वंश को छोड़ दिया गया जिससे उसको सातवाहनों से पहले सरका दिया जाए और उनके स्थान पर केशरियों को पांचवीं शताब्दी में पीछे बढ़ा दिया जाए और यह आग्रहपूर्वक कहा जाये कि उन्होंने मुरुण्डों (यवनों) को बाहर निकाल दिया। यह संभव है कि राजा गुह जिसके विषय में पुराणों तथा सिंहल के परम्परागत-कथानकों में कहा गया कि वह चतुर्थ शताब्दी में कलिंग पर राज्य करता था, वहां का अन्तिम मुरुण्ड राजा था।

केशरियों के विषयों में परम्परागत-वृत्तान्तों में प्राथमिकतया उनके भवन-निर्माण कार्यों का, विशेषतः भुवनेश्वर तथा पुरी में, अभिलेख किया गया है। आर्थिक विषयों पर कुछ सूचना, विशेषतः करों की मात्रा पर भी अभिलिखित की गयी हैं। **मादला पांजी** और पुरी की **वंशावली** में इस वंश के अन्त होने के वर्णन भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु वे इस बात पर सहमत हैं कि 1131 में गंग राजा अनन्तवर्मा पंचम को दक्षिण से किसी ब्राह्मण राजपुरुष ने निमन्त्रित किया और तब उसने समस्त देश पर राज्य किया।

गंग राजाओं के विषय में पुरा-वृत्तान्त पुनः कुछ विस्तारपूर्वक, उनके निर्माण-कार्यों तथा कलिंग के राजस्व की उनकी व्यवस्था का अभिलेख करते हैं। बारहवीं शताब्दी के अन्त में अनंगभीम द्वितीय, देवालयों, सिंचाई के साधनों, सेतुओं इत्यादि के निर्माण में अग्रगण्य राजाओं में से एक था। उसने एक भव्य प्रासाद भी बनवाया। उसने समस्त देश का नया सर्वेक्षण करवाया और व्यय के निमित्त भिन्न-भिन्न खातों में राजस्व का विभाजन व्यवस्थित किया। इस विषय पर उसका एक भाषण जो अभिजात वर्ग को सम्बोधित किया गया, **मादला पांजी** में सुरक्षित है। इसके अन्त में वह पुरी में एक नये देवालय के निर्माण का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है और उनकी स्वीकृति अभिलिखित की गयी है। तेरहवीं शताब्दी

के मध्य भाग में, नरसिंह प्रथम, कलिंग में एक सर्वप्रिय लोक-कथाओं का पात्र बन गया था। वह एक उत्कृष्ट सेनानी तथा साथ ही कोणार्क में सूर्य के भव्य देवालय का निर्माता था। छठा भानु (परम्परागत वृत्तान्त के अनुसार, परन्तु स्पष्टतया यह केवल चतुर्थ होना चाहिए) क्योंकि निःसन्तान था, अतः सूर्य वंश का एक अभिजात पुरुष कपिलेन्द्र, पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में, उसका उत्तराधिकारी हुआ, जो परम्परागत वृत्तान्त के अनुसार उसका दत्तक पुत्र था।

गजपति वंश का इस प्रकार आरम्भ हुआ। कपिलेन्द्र का पुत्र तथा उसका उत्तराधिकारी पुरुषोत्तम दक्षिण में तमिल देश पर्यन्त अपने सैनिक पराक्रम के लिए प्रमुखतः प्रसिद्ध है जिसके साथ एक प्रेम विषयक साहस का कार्य सम्बद्ध है। वह एक कवि भी था, परन्तु परम्परागत वृत्तान्त में इसकी उपेक्षा की गयी प्रतीत होती है, जबकि उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी प्रतापरुद्र की जो सोलहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में विख्यात धार्मिक आचार्य चैतन्य का संरक्षक था, विद्वता, स्वाध्याय तथा उसके सुधारों की प्रशंसा की गयी है। उसने किस प्रकार कलिंग में बुद्ध धर्म का दमन करने का निर्णय किया, इस सम्बन्ध में एक कपोलकल्पित कथा सुनाई जाती है। यद्यपि वह अभिरुचि के कारण स्वाध्याय में निरत रहता था, तथापि अपने समस्त पड़ोसियों के साथ पर्याय से युद्ध में व्यस्त रहता था। प्रतापरुद्र की मृत्यु के पश्चात् उसके अमात्य गोविन्द विद्याधर ने उसके पुत्रों का वध कर दिया, और स्वयं राजा बन गया।

कई विद्रोहों तथा राजकुल की क्रान्तियों के अन्त पर आन्ध्र देशीय तथा चालुक्य वंशज मुकुन्द नाम का एक राजपुरुष राजा बन गया। वह कलिंग का अन्तिम स्वतन्त्र राजा था, और एक शासक के रूप में उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। उसके न्यायशील चरित्र तथा सुव्यवस्थित प्रशासन के विषय में इस मत की पुष्टि उसके राज्य में आने वाले योरप के यात्रियों द्वारा हो जाती है। बुद्ध धर्म की सहायता करने के कारण उसकी सराहना तिब्बत के इतिहासकार तारानाथ ने भी की है। उसके इतना योग्य होने पर भी मुकन्द के राज्य का अन्त विपत्ति में हुआ। तुर्कों ने बंगाल से कटिबद्ध होकर आक्रमण किया और मुकुन्द के दो सेनापतियों ने जो उनका सामना करने के निमित्त भेजे गये थे, विश्वास-घात कर दिया। शेष सेना के साथ राजा ने तुर्कों से टक्कर ली, परन्तु अभिभूत हो गया और मारा गया। तब तुर्कों ने समस्त देश को लूटा और इसका विध्वंस कर दिया (1568 में) परन्तु अन्ततः एक स्थानीय राजा रामचन्द्र को जो खुरदा पर शासन कर रहा था, अपने सामन्त के रूप में वहां प्रतिष्ठित कर दिया। वह पुरी के बृहद देवालय का जीर्णोद्धार करने में सफल हुआ, यद्यपि इसको भारी क्षति पहुंची थी तथा यथाकथंचित् अभिलेख संग्रह तथा पुरावृत्तान्त सुरक्षित किये गये, तथा उनमें इस विजय का वर्णन भी जोड़ दिया गया। उसके वंशज तुर्कों के अधीन

अठारहवीं शताब्दी में मराठों की विजय पर्यन्त प्रशासन करते रहे।

वासुदेवरथ के **गंगवंशानुचरित** का आधार प्रायः **मादला पाञ्जी** प्रतीत होता है, परन्तु अभी तक इसका समुचित अध्ययन नहीं किया गया। यह गजपतियों द्वारा गंग राजाओं के विस्थापित किये जाने के पश्चात् लिखा गया था, परन्तु (लेखक को) गंग वंश की एक शाखा के स्थानीय प्रशासनकर्ता का संरक्षण प्राप्त था। इसमें स्पष्ट हास्यरस की शैली में वर्णन मिलता है। भानु षष्ठ (जिसको **मादला पांजो** में पागल भानु कहा गया है) के अपनी राजधानी से दिग्विजयार्थ प्रयाण करने पर उसके अमात्यों ने उसको राज्यच्युत करके कपिलेन्द्र को राजा बना दिया। वासुदेवरथ के अनुसार कपिलेन्द्र अनंगभीम का वंशज था, और इस प्रकार वस्तुतः गंगवंशी था।

अध्याय-26

महाराष्ट्र का इतिहास लेखन

यादव (सेवुण) वंश के समय से जिसने महाराष्ट्र में चालुक्यों को विस्थापित करके बारहवीं शताब्दी के अन्त में उनका स्थान ले लिया था, कोई ऐतिहासिक रचना सुरक्षित रह गयी प्रतीत नहीं होती। परन्तु हेमाद्रि ने जो कि तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महादेव का मन्त्री तथा अक्षपटलाधिकृत था अपने **चतुवर्ग चिन्तामणि** में जो कि कर्मकाण्ड का एक विश्वकोष है, कुछ ऐतिहासिक सूचनाएं दी है। वह इस राजकुल का वंश-वृक्ष प्रस्तुत करता है, और इसका उद्गम युद्ध से बतलाता है, जिससे पहले चन्द्रमा देवता से जैसा कि **पुराणों** में है। तब वह इससे भी पीछे अत्रि ऋषि तक जाता है (चन्द्रात्रेय विश्वास-परम्परा से तुलना कीजिये) और अन्ततः ब्रह्मा तक (कलिंग के उत्तरकालीन गंग वंश के विषय में भी कुछ स्रोत इससे मिलती-जुलती वंशावली प्रस्तुत करते हैं जिसका आरम्भ अग्नि से होता है—क्योंकि वे आत्रेय की संज्ञा से प्रसिद्ध थे— और तब यदु के स्थान पर तुरवसु से।) स्वतन्त्र राजाओं का आरम्भ भिल्लम-पंचम से होता है जिसने देवगिरि का निर्माण किया। उससे पूर्ववर्ती राजाओं की एक दीर्घ श्रेणी थी जो स्पष्टतया राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों के सामन्त थे (अंशतः वे पुराभिलेखों के माध्यम से भी ज्ञात हैं) हेमाद्रि अपने समय में ही मालव तथा आन्ध्र (काकतीय वंश) के साथ महादेव के युद्धों का वर्णन करता है।

चौदहवीं शताब्दी में सेवुणों के तुर्कों की अधीनता स्वीकार कर लेने के पश्चात् महाराष्ट्र में अधिकतर स्थानीय राजा भी प्रायः तुर्क शासकों के सामन्त बन गये, परन्तु उनमें से कुछ एक ने अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने का प्रयास किया। क्योंकि महाराष्ट्र का अधिकतर भाग पार्वतीय है अतः कुछ प्रदेशों में तुर्कों के अधिकार की समस्त अवधि में लुके-छिपे आक्रमण किये जाते रहे। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र के उत्तर-पश्चिम में राजपूतों का एक वंश जो अपने आपको (ग्यारहवीं शताब्दी के) कान्यकुब्ज के राष्ट्रकूटों के वंशज घोषित करते थे, मयूरगिरि के राज्य में अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रहे। सोलहवीं शताब्दी के

अन्त में रुद्र कवि ने संस्कृत में इन राजपूतों के इतिहास पर एक महाकाव्य **राष्ट्रौदवंश** लिखा (परन्तु उसकी कविता उसके इतिहास से अधिक अच्छी है) वह उनका उद्भव शिव और पार्वती के बीच अक्षक्रीड़ा से निकालता है। एक अक्ष शिव के मुकुट के चन्द्रमा पर जा टकराया, जिसमें से ग्यारह वर्ष का एक बालक प्रकट हुआ। क्योंकि कान्यकुब्ज का अन्तिम राजा जो सूर्यवंशी माना जाता था निस्सन्तान था, और अपने उत्तराधिकारी होने वाले पुत्र के लिए प्रार्थना कर रहा था, शिव ने उस (बालक) को कान्यकुब्ज का राजा बना दिया। उसका नाम राष्ट्रौढ़ रखा गया जिसका अर्थ 'राष्ट्र का वहन करने वाला' कहा जाता है। यह असंभव प्रतीत होता है, कि यहां पर प्रस्तुत की गयी कान्यकुब्ज के राजाओं की सूची को वहां के राजाओं में से किसी के साथ सम्बद्ध किया जाए जिनका इतिहास में अन्यथा ज्ञान प्राप्त हो। अन्ततः जो सार निकलता है यह है कि कान्यकुब्ज के राजा का छोटा भाई जो कि गुर्जर के जयसिंह सिद्धराज (ई० प० 1100) का समकालीन था, उसने सेवुण राज्य में अपनी भाग्य लक्ष्मी खोजने का प्रयास किया—ऐसी मान्यता है। उसने वहां एक राजाराम की पुत्री से विवाह किया। इस साहसी के प्रपौत्र के पुत्र नानदेव ने एक स्थानीय राजा से मयूरगिरि जीत ली और वहां पर अपने आपको प्रतिष्ठित कर लिया (चौदहवीं शताब्दी में) उसने तुर्कों के साथ (तुरुष्क, या **म्लेच्छ** अर्थात् असभ्य) युद्ध किये जिनकी विशाल सेनाएं दिल्ली से आकर बहुत से देशों को पादाक्रान्त करती थी और उन्होंने राजाराम को जीता और उसका वध कर दिया। एक वर्ष के संग्राम के पश्चात् नानदेव मारा गया परन्तु उसके पुत्र एकदेव ने युद्ध जारी रखा और तुर्कों को पराजित किया। उनके कवि के अनुसार उनके उतराधिकारियों ने अपने आपको तुर्कों से सुरक्षित रखने से भी अधिक कार्य यह किया कि उन्होंने एक ऐसी आक्रमण सन्तति को जारी रखा जो लुक-छुपकर युद्ध करने के सदृश थी। इसके साथ-साथ ही उन्होंने ब्राह्मणों को संरक्षण प्रदान किया, और वैदिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान किया। क्योंकि तुर्क प्रायः आपस में बंटे हुए थे, राष्ट्रकूट राजा कभी-कभी एक के विरुद्ध दूसरे सामन्त के साथ मिल जाते थे।

रुद्र के समय में राजा नारायण समृद्धि (के वातावरण) में राज्य कर रहा था। वह अपने कोटनगर की रक्षा, सब शत्रुओं के विरुद्ध तोपें स्थापित करके कर रहा था, और विजय-युद्धों में सफलता-पूर्वक भाग ले रहा था। महाकाव्य के अन्तिम (बीसवें) सर्ग में, कवि ने यह वर्णन किया है कि नारायण के पुत्र प्रताप ने मुगल सम्राट् अकबर के पुत्र के साथ-साथ, उत्तरोक्त द्वारा महाराष्ट्र में स्थानीय तुर्क राजाओं का जो कि चौदहवीं शताब्दी से दिल्ली से स्वतन्त्र सत्ता बनाए चले आ रहे थे, दमन करके अपने साम्राज्य का प्रसार करने के लिए आरम्भ किये गये युद्ध में प्रसिद्धि-दायक कार्य किया। इसमें हमें अकबर की उस

राजनीति की एक झांकी प्राप्त होती है, जिससे वह भारतीय राजाओं को उनके धर्म का आदर करके समस्त भारत का एक योग्य शासक बनने के लिए उनका समर्थन प्राप्त करके और उनको प्रसन्न रखकर अपने साम्राज्य को दृढ़ बनाना और इसकी वृद्धि करना चाहता था परन्तु रुद्र चापलूसी के ढंग से नारायण को सम्राट् (सार्वभौम) कहकर उसका उल्लेख करता है, और अकबर को केवल दिल्ली-पति (कहता है।) इस प्रकार प्रताप को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है और महाकाव्य की शुभ समाप्ति हो जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मराठा अभिजात वर्ग ने शनैः-शनैः अपना प्रभाव तुर्कों द्वारा स्थापित किये गये राज्यों में बढ़ा लिया था। यह स्पष्ट है कि यह कार्यक्रम इसलिए संभव हो सका क्योंकि भिन्न-भिन्न सुलतानों की यह अभिलाषा थी कि वे दिल्ली से स्वतन्त्र हो सकें। दूसरा कारण सुलतानों की परस्पर स्पर्धा थी। (उनमें से) प्रत्येक अपने सामन्त स्थानीय राजाओं पर अधिक से अधिक विश्वास रखता था, और इसी कारण मराठा अभिजात-वर्ग पर भी कि वे प्रशासन कर्मचारियों तथा सेनापतियों के रूप में उनकी सेवा कर सकेंगे। तावत् स्थानीय राजा अपनी राज-भक्ति एक सुलतान से दूसरे सुलतान को समर्पित कर देते थे, तथा उनमें से किसी से भी (हटाकर) मुगल सम्राट् को (अर्पित कर देते) जैसे भी उनको (अपने लिए) लाभदायक हो। इसका सर्वसाधारण परिणाम यह था कि सबके सब सुलतान तथा मुगल (सम्राट्) नियन्त्रित रहते थे तथा मराठा सरदारों की शक्ति बढ़ती थी। कई एक मराठा सेनापति विजयनगर के साथ सुलतानों के युद्धों में और अधिक उलझे रहते थे। इससे दक्षिण भारत में सत्रहवीं शताब्दी में खेले जा रहे शतरंज के बहुमुखी खेल में एक और पेचदगी बढ़ा दी गयी थी। विजयनगर साम्राज्य आन्तरिक प्रतिस्पर्धाओं के कारण दुर्बल हो गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन सम्राट् अपने **नायकों** पर अधिक निर्भर हो गये परन्तु उनकी सहायता पर विश्वास करने में उनका सामर्थ्य कम हो गया। मधुरा प्रायः विद्रोही रहता था, ताजनगर प्रायः अनुरक्त। सम्राट् अपने उपद्रवी सामन्तों तथा सुलतानों के बीच फंसे हुए थे। उनको सामन्तों के विरुद्ध पुनः-पुनः अभियान करना पड़ता था। उत्तर से सुलतान निरन्तर आक्रमणों से बाधित करते थे और उन्होंने क्रमशः साम्राज्य के उत्तरी जनपद हथिया लिये। सुलतानों के अधीन सेवा करने वाले कुछ मराठा सेनापतियों ने विजयनगर साम्राज्य के इस ह्रास को पहचाना और साधारण दृष्टि में इसको अवश्यम्भावी समझा, यद्यपि समस्त भारतीयों की यह आकांक्षा कि अपने धर्म को इस्लाम के आक्रमणों तथा उत्पीड़नों से बचाया जाए उनके मन में भी थी। जब हम सत्रहवीं शताब्दी तथा उससे उत्तर काल की मराठों की ऐतिहासिक रचनाओं को पढ़ते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि उनके नेता भारतीय राज्य तथा भारतीय धर्म की

पुनः स्थापना करने के आदर्श से प्रेरित थे। यदि विजयनगर इस आदर्श की प्राप्ति की सामर्थ्य अब नहीं रखता था, तो दूसरों के लिए यह अवसर निकट पहुंच चुका था कि वे उनका स्थान ग्रहण कर लें। अन्तिम विजयनगर सम्राट् श्रीरंग तृतीय था (1642-72) उसने साम्राज्य का उद्धार करने के लिए अत्यन्त सशक्त प्रयत्न किया परन्तु उसको स्थायी विजय प्राप्त नहीं हुई। उसकी मृत्यु हो जाने पर भारतीय पक्ष का नेतृत्व भोसला मराठा परिवार के हाथों में चला गया।

भोसलों के आश्रय में इतिहास-लेखन एक विशाल तथा गहन विषय बन गया है। विविध प्रकार की सामग्री की एक विशाल राशि बच रही है, और यह भिन्न-भिन्न तथा कभी-कभी परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित करती है। अपि च इतिहास-लेखन की यह परम्परा अद्यावधि चलती आई है और इसमें मुश्किल से कोई व्यवधान आया होगा। इसके सम्बन्ध में विवाद अभी तक गर्मागर्मी से चल रहे हैं, और इसमें हम उस शैली का जीता-जागता उदाहरण देख सकते हैं, जिसमें कि इतिहास प्रायः लिखा गया है।

प्रमुख मराठा सेनानी जिसने दक्षिण में तुर्क सुलतानों के अधीन युद्ध किये, और क्रमशः अपनी निजी स्थिति को दृढ़ बनाया शाह भोसले था (जन्म-1594, मृत्यु 1664) जयराम के अनुसार जो उसके पास उस समय गया जब उसने कर्णाटक में अपने आपको वास्तविक रूप में स्वतन्त्र प्रतिष्ठित कर लिया था, यह शाह मेदपाट के गुहिलपुत्र राजपूतों की शिशोदिया शाखा का वंशज था। जयराम ने एक चम्पू **राधा माधव विलास** संस्कृत में लिखा जिसमें समकालीन इतिहास के विषय में कुछ उल्लेख विद्यमान हैं। इससे भोसला परिवार प्राचीन सूर्यकुल की एक शाखा बन जाता है, और उनके भारत के वैध शासन कर्ता होने की मांग की पुष्टि करता है। इसी चम्पू में गोलकुण्ड के सुल्तान की सेना पर दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर 1651-52 में शाह की विजय का तथा ऐसे ही अन्य कार्यों का वर्णन किया गया है।

शाह के उद्योगों का अत्यधिक विस्तृत वर्णन, जो कि पर्याप्त मात्रा में प्रमाणिक प्रतीत होता है, (यद्यपि इस विषय में आपत्ति की गयी है) परमानन्द के अधूरे महाकाव्य **सूर्यवंश** में दिया गया है। जैसा कि इसके शीर्षक 'सूर्यवंश' का अभिप्राय है, इसकी योजना भोसला परिवार के इतिहास के रूप में बनाई गयी थी। इस परिवार को उस वैभवशाली तथा परम वैध प्राचीन वंश की संतति माना गया, जिसका भागधेय इस वंश की साम्राज्य-लक्ष्मी की पुनःस्थापना करना था। परमानन्द की कविता लिखने की योग्यता अधिक नहीं है, यद्यपि वह महाकाव्य की छन्दों की विविधता का प्रयोग करने का प्रयास करता है। उसकी रचना को उसके अपने ही वर्णन के अनुसार अतीव न्यायपूर्वक एक अनुपुराण अथवा पुराणों का परिशिष्ट समझा जा सकता है। अर्थात् प्राचीन सार्वभौम

इतिहास का उत्तरांश न कि एक काव्य ग्रन्थ। (इस ग्रन्थ के एक तमिल अनुवाद में इसको **शिवभारत** कहा गया है, अर्थात् शाह के पुत्र राजा शिव पर लिखा गया भारत अथवा काव्य और यह लोक प्रचलित परन्तु अयथार्थ नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है) स्वयं **सूर्यवंश** में इसको एक शत सर्गों का ग्रन्थ कहा गया है, परन्तु जहां तक इस समय ज्ञात है, इनमें से 60 से अधिक कभी भी नहीं लिखे गये।

शाह के विषय में, परमानन्द पहले पहल प्राप्त की गयी उसकी युद्ध-विजयों का वर्णन करता है, जब उसने एक सुलतान के विरुद्ध दूसरे की सहायता की। उदाहरणार्थ (1624 में) बीजापुर के सुलतान तथा मुगल सम्राट की सम्मिलित सेनाओं के विरुद्ध। तब वह यह वर्णन करता है कि शाह ने किस प्रकार शाह ने (1640 के आसपास) विजयनगर के एक स्थानीय **नायक** के विरुद्ध, बीजापुर के सुलतान के पक्ष में युद्ध किया। कुछ अतिशयोक्ति के साथ यह कहा गया है कि शाह ने समस्त कर्णाटक तथा तमिल देश को (राजनीति शास्त्र की) षड्विधि नीति का प्रयोग करके जीता। यद्यपि यह समझा जाता था, कि वह बीजापुर के सुलतान के सेनानी के रूप में युद्ध कर रहा था, जिसकी इच्छा दक्षिण को जीतने की थी, उसके विषय में यह कहा गया है कि उसने न तो देश का विध्वंस किया और न उसको लूटा, और इसके विपरीत जो कुछ सुलतान की सेनाओं ने इससे पहले लूटा था, वह सब लौटा दिया गया। सामान्यतया उसने पराजित स्थानीय राज्यपालों को पुनः प्रतिष्ठापित कर दिया तथा विजयनगर शासन-प्रबन्ध को यथापूर्व सुरक्षित बनाए रखा। वह अपनी शक्ति का विस्तार (अवश्य) कर रहा था, परन्तु यह कार्य वह दक्षिण के भारतीय साम्राज्य के दायाद के रूप में कर रहा था, इसके विनाशकर्ता के रूप में नहीं। यह बलपूर्वक कहा जाता है कि इस प्रकार उसने जनता को तुर्कों के भय से वस्तुतः मुक्त कर दिया। इन अभियानों में उसने एक सेनानी के रूप में प्रबल प्रसिद्धि संप्राप्त कर ली, और उस सुलतान के लिए जिसका वह सेवक समझा जाता था, वह स्पष्ट रूप से अपरिहार्य यद्यपि भय का कारण हो गया। 1648 में जिञ्जी के उपरोध में इस सन्देह से कि वह तुर्कों की विरोधी भारतीय शक्तियों का नेता बन रहा था सुलतान ने एक और मराठा सेनानी द्वारा शाह को बन्दी करवा दिया। परमानन्द ने इसका वर्णन यथार्थ रूप में किया है। परन्तु पीछे से कुछ प्रदेशों के बदले जो शाह के पुत्रों के अधिकार में थे, उसको मुक्त कर दिया। परन्तु शाह के पुत्र वीरता-पूर्वक सुलतान के विरुद्ध अपनी स्थिति पर डटे रहे। दूसरे शब्दों में दक्षिण के विविध प्रदेशों पर, तथा महाराष्ट्र में अपनी पैतृक भूमि पर भोसलों का शासन स्वीकार कर लिया गया और वे, बीजापुर के सुलतान के सामन्त मात्र होने के स्थान पर उसके नीचे सहायक बन गये। बीजापुर के सुलतान को इस बात का आभास हो गया कि वह यह आशा

नहीं कर सकता था, कि वे उसके भक्त बने रहेंगे, और उसने उनको नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न किया, परन्तु यह उनका दमन नहीं कर सका क्योंकि वे अत्यधिक शक्तिशाली थे।

परमानन्द के अनुसार शाह के उसकी पहली पत्नी जिजाम्बा से छः पुत्र थे जिनमें से केवल दो—शम्भु और शिव बाल्यकाल के पश्चात् जीवित रहे। उसकी दूसरी पत्नी तुकाम्बा ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम एक था। कवि ने महाराष्ट्र की शक्ति का निर्माण करने में शिव के सैनिक कौशल के लिए उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रायः शिव उत्तर-महाराष्ट्र में ही व्यग्र रहता था जबकि उसका पिता दक्षिण में अपने बुहमुखी अभियान चलाता रहा। इस स्थान पर (महाकाव्य के पूर्व भाग में) वर्णन 1661 तक चलता है जब शिव ने (पश्चिम समुद्र-तट पर) कल्याण पर एक मुगल आक्रमण को परास्त किया, और आक्रमण-कारियों को सह्य पर्वतमाला में निरुद्ध कर लिया। 1664 में मराठों के राजा के रूप में शाह का उत्तराधिकारी बना। (शम्भु दस वर्ष पूर्व युद्ध में मारा गया था) परन्तु उसी समय एक दक्षिण (महाराष्ट्र) में क्रियात्मक रूप में स्वतन्त्र हो गया। अपनी स्थिति को अत्यधिक दृढ़ बना लेने के पश्चात् ही 1674 में शिव ने, रायगिरि में अपना राज्याभिषेक खुले तौर पर करने का साहस किया और तुर्की राजाओं के प्रति भक्ति के आभास मात्र को भी उतार फेंका। इसी अवसर पर उसने परमानन्द को अपने वंश पर महाकाव्य की रचना करने के लिए कहा। इसका प्रथम भाग जिस रूप में हमारे पास है, उतना ही अंश प्रतीत होता है जितना कि कवि ने 1680 में राजा शिव की मृत्यु के पूर्व सम्पूर्ण कर लिया था। इसके पश्चात् एक विभिन्न योजना के अनुसार इसकी रचना करते रहने के लिए उसके पास एक हेतु था। परन्तु उसने 1687 के आसपास अपनी मृत्यु पर्यन्त भी इसको सम्पूर्ण किया नहीं था।

राजा शिव की मृत्यु के पश्चात् लिखे गये सर्गों में, परमानन्द का प्राथमिक ध्यान उन घटनाओं की ओर था जिनका सम्बन्ध राज्य के उत्तराधिकार से था। उसका नया आश्रयदाता राजा शम्भु था जिसका अभिषेक 1681 में हुआ। कवि उसके कथानक का आरंभ 1676 में करता है (यह माना जा सकता है कि उसका आशय 1661 तथा 1676 के बीच की घटनाओं पर कुछ सर्ग पीछे से जोड़ देने का था) शिव के दो पुत्र थे। शम्भु उसकी प्रथम पत्नी से था और राजाराम तीसरी से। राजाराम की माता सोयराम्बा ने किस प्रकार शिव को प्रेरित किया कि वह उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी नियत करे और शम्भु को बाहर भेज दे। तब शिव ने शम्भु को दक्षिण महाराष्ट्र में भेज दिया। शम्भु ने कर्तव्यनिष्ठा से स्वयं यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि राज्य का केवल उत्तराधिकारी बनने की अपेक्षा वह विजय से अपने लिए राज्य की प्राप्ति करेगा जिस प्रकार उसके पिता ने किया

था। कवि हमें बताता है कि जैसे घटनाएं घटीं, शिव की मृत्यु हो जाने पर, शम्भु ने मृतक-संस्कार किये, और कुछ मास के वैमनस्य के पश्चात् मन्त्रियों ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। उसने सोयराम्बा तथा राजाराम के साथ अच्छा व्यवहार किया। (उसकी अपनी माता कई वर्ष पहले मर चुकी थी।)

इस वर्णन की पृष्ठभूमि के रूप में परमानन्द ने इस बात की व्याख्या की है कि अपने बड़े पुत्र को अवक्षिप्त करने के प्रयत्न में राजा शिव को विमोहित किया जा सकता था। समस्त काव्य को एक अतिमानुष सन्निवेश में प्राचीन **पुराणों** की भांति प्रस्तुत किया गया है। एवं शिव देवता को पृथ्वी पर घटना क्रम का वर्णन कलि (मूर्तिमान पापाशय **कलि** युग) को समझाते हुए प्रस्तुत किया गया है। उसके परिवार के देवताओं में से एक (वितण्डी) ने शिव की पत्नी पार्वती को कुपित कर दिया था, और पार्वती ने उसको पृथ्वी पर अवतरित होने का शाप दे दिया था, परन्तु (यह भी कहा था) वह एक सम्राट होगा और उसको पार्वती का संरक्षण प्राप्त होगा। वह दक्षिण का सम्राट राजा शिव बन गया। (जो कि वस्तुतः पार्वती का उपासक था) शिव देवता कलि को पृथ्वी पर इस निमित्त से भेजा था कि वह लोभ, मोह आदि विकारों द्वारा, उस पर अपनी शक्ति प्रतिष्ठित करे (जो वर्तमान युग के अनुरूप हैं)। कलि अपना प्रभाव सीधे तो राजा शिव पर नहीं डाल सकता परन्तु वह उसके पाश्ववर्ती लोगों को भ्रष्ट करने में सफल हो जाता है। कलि स्वयं अपनी राक्षसी बहन की देह में प्रवेश कर जाता है और उसको रूपवती सोयाम्बा के रूप में राजा के पास भेज देता है। उसके द्वारा वह राजा को मोह में डालने में सफल होता है तथा वैध दायाद को राज्याधिकार से वंचित करवा देता है। इस प्रकार हमारा इतिहासकार जिन घटनाओं का वर्णन करता है, उनका समाधान कर देता है तथा अपने संरक्षक के अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने को उचित सिद्ध करता है।

दक्षिण महाराष्ट्र (श्रृंगारपुर) में भेजे जाने के पश्चात् शम्भु ने जो कुछ किया वह अत्यधिक विवादास्पद है। राजा शिव ने कर्णाटक में अपने राज्य का विस्तार करने के लिए अभियान किया। परमानन्द के अनुसार तब देवी पार्वती शम्भु के सामने प्रकट हुई और उसको दिल्ली पति की सेना में चले जाने का उपदेश दिया जहां पर उसकी रक्षा करने के लिए वह अपनी शक्ति का प्रयोग करेगी। तब यथा समय वह अपने पिता के पश्चात् सम्राट् बन जाएगा। इसके पश्चात् यह हुआ कि दिल्ली-पति औरंगजेब ने, यह जान कर कि राजा शिव अपने पुत्र से अलग हो चुका था, और इसमें एक ऐसे छिद्र का निरीक्षण करते हुए जिसकी लाभ अपने शत्रुओं को परास्त करने में उठाया जा सका तथा, अपने एक अफसर दलेल को आज्ञा दी कि वह शम्भु से पत्रव्यवहार आरंभ करे जिससे उसको अपने पक्ष में मिला लिया जाए। पहले शम्भु दक्षिण से अपने पिता के लौट आने

की प्रतीक्षा करता है क्योंकि उस को शृंगारपुर में राज्य शासन का कार्य सौंपा गया है। इतिहासकार सदैव शम्भु की कर्तव्यपरायणता पर आग्रह करता है। राजा शिव अपने राज्यों को अपने पुत्रों में बांट देने का विचार करता है, परन्तु उसके मन्त्री उसको तुर्कों के साथ शम्भु के सम्बन्धों के विषय में चेतावनी देते हैं। इसके परिणामस्वरूप वह शम्भु को फिर बाहर भेज देता है। इस बार सज्जनगिरि को भेजता है वहां फिर उसके सामने देवी प्रकट होती है और अपने उपदेश को दुहराती है। तदनुसार वह निकटतम तुर्की छावनी को, अपना पीछा किये जाने से बचकर अत्यन्त द्रुत गति से भाग जाता है और दलेल से जा मिलता है। दलेल ने शम्भु को पूर्ण रूप से अपने साथ मिला लेने का भरसक प्रयत्न किया। और सेना एकत्रित करने में सहायता दी जो उसके साथ अभियानों में भाग लेने के लिए उद्यत हों। परन्तु शम्भु भ्रान्ति में पड़े हुए अपने पिता का शत्रु बन जाने से इनकार कर देता है, और यह कह देता है कि यथा समय किसी प्रकार से अनायास ही राज्य उसी को मिल ही जायेगा। साथ ही वह औरंगजेब का सेनानी बनकर सेवा करना स्वीकार कर लेता है और एक विदूरस्थ मराठा दुर्ग भूपाल दुर्ग पर अधिकार कर लेता है। इसको उचित सिद्ध करने की परमानन्द को विशेष आवश्यकता है, परन्तु भूपाल दुर्ग के ग्रहण किये जाने के वर्णन की पूर्ति से पहले ही उसका प्रवाहशील वर्णन भी समाप्त हो जाता है। जो प्रश्न उसने स्वयं उठाया था वह बिना उत्तर के ही रह जाता है। इस इतिहास में यह आभास होता है कि जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है, उनके विषय में यह प्राय: तथ्यात्मक है, परन्तु इस बात में सावधान है कि इनकी अर्थव्यक्ति उसके संरक्षक शम्भु के अनुकूल रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना समकालीन अथवा समकालीन प्राय पाठकों को दृष्टि में रखकर की गयी है जिनको घटनाओं का परिचय था, और जो उनकी विवेचना करने में प्रायश: अधिक तत्पर रहते थे, और जिनकी अनुरक्ति उन पर शासन करने वाले व्यक्ति की शुचिता की विश्वासजनक अभिव्यक्ति से प्राप्त की जा सकने की संभावना थी।

सूर्यवंश में से अभी तक प्राप्त किये जा सके सर्गों में से बारह सर्ग और शेष हैं। ऐसा प्रतीत है कि वे शम्भु के अभिषेक के पश्चात् कृति के उत्तरभाग के रूप के आशय से लिखे गये। उनका विषय है कि किस प्रकार शम्भु ने देवी की उपासना की, जिसके परिणामस्वरूप उसकी रानी राजना ने एक पुत्र को जन्म दिया। (1682) हमें यह बताया गया है कि किस प्रकार एक आचार्य का जो देवी की पूजा पद्धति का विशेषज्ञ था, राजा के साथ परिचय करवाया गया, और राजा ने उसके पथप्रदर्शन में एक विस्तीर्ण यज्ञ करवाया। वर्तमान अवशिष्ट खण्ड संक्षेप से अपने पिता की धर्मान्ध नीतियों तथा राजा शम्भु के साथ व्यवहार, जो इस संघर्ष में उसकी मित्र शक्ति था, के विरुद्ध औरंगजेब के पुत्र अकबर के विद्रोह का उल्लेख

करते हैं जो अन्ततः असफल रहा। इस विषम संघर्ष की अवधि में औरंगजेब ने बीजापुर 1686 तथा गोल कुण्डा 1687 को जीतकर धीरे-धीरे अपनी स्थिति को दृढ़ बना लिया। तब वह महाराष्ट्र को जीतने का प्रयत्न करने के लिए सज्जित था।

परमानन्द के इतिहास के अन्तराल की अवधि में घटित एक प्रमुख घटना का वर्णन, जयराम ने, जिसका नाम ऊपर लिया जा चुका है, अपने **पर्णालि पर्वतग्रहणाख्यान** में किया है। इस महाकाव्य-आख्यान में शिव द्वारा, 1673 में दक्षिण महाराष्ट्र में बीजापुर से पर्णालि के दुर्ग-ग्रहण की प्रशंसा का गान किया गया है। शिव के अभिषेक पर अनिरुद्ध ने **शिवराजराज्याभिषेककल्पतरु** की रचना की। विश्वेश्वर (गागाभट्ट) ने अपने **कायस्थधर्मप्रदीप** की भूमिका में (जो अभिषेक के समय के आसपास ही लिखा गया था) शिव का वर्णन विष्णु के अवतार के रूप में किया है, जिससे म्लेच्छों से पीड़ित पृथ्वी की रक्षा हुई और सुख की स्थापना।

महाराष्ट्र पर औरंगजेब के विशाल आक्रमण में, जिसका आरंभ 1687 में हुआ, शत्रु को क्षीण कर देने की आशा से लुक-छिपकर युद्ध करने के लिए बाध्य हो गये। घेरा डाल देने के निमित्त अभियानों की एक संतति के पश्चात् 1689 में शम्भु को बन्दी बना लेने में तुर्क सफल हो गये और जब उसने शेष मराठा—दुर्गों को आत्म समर्पण की आज्ञा देने से इनकार कर दिया तो औरंगजेब ने उसको यातना देकर मार डाला। तुरन्त ही राजाराम को राजा घोषित कर दिया गया और उसने युद्ध जारी रखा। तुर्कों से बचते हुए उसने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया जिससे वह चेञ्जी (जिञ्जी) से युद्ध करता रहे, जबकि उत्तर में लुके-छिपे युद्ध चलता रहा। चेञ्जी के इस अभियान का वर्णन केशव ने अपने **राजारामचरित** में किया है। कर्णाटक के राजा राजराम की सहायता करने और म्लेच्छों को कुचल डालने के लिए एकत्रित हो गए।

महाराष्ट्र के अपने इतिहास-लेखन की विवेचना करने से पहले, हमें संक्षेप से सुदूर दक्षिण में (इतिहास) सृजन का उल्लेख अवश्य करना चाहिए, जहां पर एक तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन में एक स्वतन्त्र मराठा राज्य समृद्धिशाली था। 1675 में एक ने नायकों से तजनगर छीन लिया और अपने आपको राजा घोषित कर दिया। अपने नये राज्य का संगठन करने के पश्चात् उसने राज्य त्याग दिया और अपने पुत्र शाह को संभाल दिया। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में वेंकटेश्वर ने **भोसलवंशावली** की रचना की जो तञ्जनगर के इन मराठा राजाओं के विषय में थी। इस प्रकारअय्यावाल (वेंकटेश) का **साहेन्द्र विलास** महाकाव्य इन्हीं राजाओं का वर्णन इक्ष्वाकु राम आदि के सूर्यवंश के प्रसार के रूप में करता है, और तुर्कों को पराजित करने के लिए शिव की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। यथावसर वह इस

बातका वर्णन भी करता है कि किस प्रकार 1684 में एक में शाह का अभिषेक करके राज्य का त्याग कर दिया। उसने यह भी वर्णन किया है कि शाह ने किस प्रकार राजाराम की सहायता की जब उत्तरोक्त चेञ्जी को आया था। नला (भूमिनाथ) का लिखा हुआ **धर्म विजय चम्पू** भी शाह के जीवन पर ही है। शाह का एक राज्याधिकारी 'इतिहासकार' (पौराणिक) दुण्ढिराज भी था जिसने नैतिक दृष्टिकोण से रामायण पर एक टीका लिखी जिसके साथ एक लम्बी ऐतिहासिक भूमिका में राजा के जीवन का वृत्तान्त लिखा। वास्तव में तथा साहित्य में भी शाह एक प्रबुद्ध तथा लोकप्रिय राजा प्रतीत होता है। 1712 में उसका भाई शरम उसका उत्तराधिकारी हुआ जो कि जगन्नाथ के **शरभराजविलास** (एक गद्य जीवनी) का तथा संस्कृत में लिखे गये कम से कम एक और ऐतिहासिक रचना (अनन्तनारायण का **सरभोजीचरित**) का नायक तथा साहित्य का एक महान् संरक्षक था। गंगाधर की लिखी हुई एक और भोसलवंशावली उसकी रचनाओं में से एक से एक उदाहरण मात्र है।

महाराष्ट्र के उत्तरकालीन इतिहास अधिकतम मराठी में लिखे गये हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बहुसंख्य **बखर** या घटना-वृत्तान्त हैं, जिनके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर गीतिकाएं तथा फुटकर रचनाएं हैं जैसे कि दैनिक वृत्त पुस्तकें तथा शकावलियां जो कुछ घटनाओं की तिथियों का उल्लेख करती हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहां संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रन्थ जिनका नाम ऊपर लिया जा चुका है, अधिकतम उन घटनाओं के समकालीन हैं जिनका वर्णन उनमें किया गया है, वहां मराठी **बखर** साहित्य में, हमें कुछ समकालीन वर्णनों के अतिरिक्त उस विधा की बहुत-सी रचनाएं हैं जिनको हम पहले द्वितीय श्रेणी का इतिहास-लेखन कह चु हैं। प्राचीन बौद्ध इतिहासों के सम्बन्ध में एक **बखर** स्थानीय इतिहास से लेकर प्राचीन काल के सार्वभौम भारतीय इतिहास पर्यन्त कुछ भी हो सकता है। सत्रहवीं शताब्दी में से किञ्चित् ही सुरक्षित रह पाया है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है क्योंकि औरंगजेब ने प्रायः समस्त देश का विध्वंस कर दिया था। उसने एक-एक करके इसके नगर तथा पार्वतीय दुर्ग अपने अधिकार में ले लिये थे, यद्यपि वह इनमें से किसी को भी चिरकाल तक अपने अधीन रखने में सफल नहीं हुआ था। शिव मराठी शिवाजी का एक घटना-वृत्तान्त जो उसकी सभा के एक राज्याधिकारी दत्ताजी ने लिखा था, और स्पष्टतः जिसके सम्पूर्ण किये जाने में 1680 पश्चात् अधिक समय नहीं लगा था, केवल कुछ एक अंशों में, एक उत्तर कालीन वंशावली का अंग बनकर बचा रह गया है। यह मिश्रित रचना प्राय 91 खण्डों के **बखर** के नाम से प्रसिद्ध है। सभासद् ने जो राजा शिव का समकालीन था जिञ्जि में 1697 में अपना **बखर** सम्पूर्ण किया। उसको राजाराम ने इसे लिखने के लिए कहा था। घटनाओं को साक्षात् देखने वाले लेखक की लिखी हुई

यह एक प्राथमिक इतिहास-लेखन की रचना है यद्यपि चेञ्जी के निरोध की परिस्थिति में लेखक असुविधाओं की बाधा में लिख रहा था, जबकि संभवत राजकीय अक्षपटलों तक उसकी पहुंच नहीं थी। उत्तरकालीन **बखर** लिखने वालों ने सभासद् का स्रोत के रूप में प्रायशः प्रयोग किया है।

91 खण्डों के **बखर** के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ मूलतः दत्ताजी ने लिखा था जो कि शिव का मंत्री था ('मति-सचिव' शिव के संविधान में जो सचिव अनुशासन कार्य करता था—विशेषतः सचिव के रूप में) और यह स्पष्ट है कि वह एक ऐसा व्यक्ति था जो इस प्रकार के इतिवृत्त के निर्माण के लिए सर्वोत्तम था। उसके वंशजों द्वारा सन्मानित एक छोटे राज्याधिकारी के इतिहास के साथ विरचित ग्रन्थ के एकमात्र ज्ञात और उपलब्ध पाठान्तर जिसमें (लेखक ने) शिव के साथ अपना जीवन (चरित) मिश्रित कर दिया है, के अतिरिक्त परम्परागत कथाएं तथा कल्पित कथाएं हैं, जो कि पूर्णरूप में संभवतः दत्ताजी की रचनाएं न हों। तथापि अन्यथा ग्रन्थ के पाठ में अभी भी शिव के जीवन के विषय में प्रामाणिक दिखाई देने वाले विस्तृत वर्णन सुरक्षित हैं, जिनमें उसके यौवन, उसके शासन-विधान, सैनिक प्रयाण, तथा दुर्गों का निर्माण सम्मिलित हैं।

सभासद् बखर शिवछत्रपतिचेन् चरित (राजा शिव का जीवन-चरित) का रचना-विन्यास-क्रम विषम है क्योंकि यह तिथि-गणना के क्रम में नहीं रखा गया, प्रत्युत जैसे-जैसे लेखक के मन में विविध स्मरण आये, उनका प्रायः क्रमहीन चरित्र-लेखन इसमें किया गया है। दूसरी बातों के अतिरिक्त लेखक ने शिव के एक भाषण का उल्लेख किया है जो उसने अपने देशवासियों में कर्मण्यता का उद्बोधन करने के लिए दिया था—"हम म्लेच्छ शासकों के उपहारों से तथा अपनी पैतृक सम्पत्ति से क्यों सन्तुष्ट रहें ? हम भारतीय हैं। यह देश हमारा है, परन्तु फिर भी म्लेच्छ इसको ग्रहण किये हैं। वे हमारे देवालयों को दूषित करते हैं, हमें लूटते हैं, बलात् हमारा धर्म-परिवर्तन करते हैं इत्यादि। हम इसको और अधिक सहन नहीं करेंगे, परन्तु अपने धर्म और अपने देश की रक्षा के लिए अपनी भुजाओं का आश्रय लेंगे। यदि हम प्रयास करेंगे तो ईश्वर हमारी स्वतन्त्रता के प्राप्त करने में हमारी सहायता करेगा।"

यहां पर जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया गया है, उनमें सलेरी पर्वत का युद्ध, (मयूरगिरि के निकट शालागिरि) 1672 में शिव के महामन्त्री (**मुख्य प्रधान**; इसके फारसी पर्यायवाची **पेशव्या** या पेशवा का प्रयोग, मराठा प्रधान-मन्त्रियों के लिए आंगल-भाषा की रचनाओं में प्रायः किया जाता है) की मुगलों पर विजय जो कि दो वर्ष पश्चात् शिव के अभिषेक के लिए मार्ग प्रकल्पित करने में संभवतः निर्णायक हुई। शिव के स्वतन्त्रता संग्राम का यह चरम-बिन्दु था जिसका आरंभ 1670 में हुआ और जिसका वर्णन यहां

पर भी किया गया है, जब शिव ने तीव्र गति से दुर्गों की एक शृंखला को पुनः ग्रहण किया, जो उसे पहले (1665 में) अम्बावती के जयसिंह प्रथम को, जो उस समय मुगलों के सेनापति के पद पर कार्य कर रहा था, समर्पित करनी पड़ी थी। (जयसिंह प्रथम का देहान्त 1667 में हुआ जब औरंग ने उसे वापिस बुला लिया था, (क्योंकि) उसने कभी भी उस (जयसिंह) पर पूर्ण विश्वास नहीं किया। मुगलों की सेवा में वह एकमात्र सेनापति था जो शिव का प्रतिरथ था। उसका उद्देश्य यह था कि वह शिव को मुगलों का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए प्रेरित करे, और साम्राज्य के अन्दर सर्वसाधारण सामनस्य उत्पन्न करे। अपनी भक्ति के विनिमय में सम्राट् औरंग से भारतीय प्रजा के लिए उचित समादर बरबस प्राप्त करे। परन्तु दम्भी और धर्मान्ध औरंग ने शिव का विनाश करने के प्रयत्न से, स्वयं इस योजना में बाधा डाली। उसने अन्त तक लड़ते रहने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नहीं छोड़ा। सभासद् ने शिवा के 1676-77 में दक्षिण पर अभियान का वर्णन भी किया है, जब उसका उद्देश्य कर्नाटक को जीतने का था। तत्पश्चात् एक के साथ अपनी पैतृक सम्पत्ति के विषय में विस्तृत योजना निश्चित की जायेगी। (कुछ आरंभिक मतभेद के पश्चात् यह सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। पीछे से भोसलों की दोनों शाखाएं सामनस्यता से राज्य करती रहीं) मुगलों के साथ उसके संव्यवहार के कारण सभासद् शम्भु को पतित मानता है, जो निस्सन्देह राजाराम का विचार था और इसी विचार को (परमानन्द के विचार को नहीं) प्रायः सब उत्तरवर्ती मराठा इतिहास-लेखकों ने ग्रहण किया।

उत्तरकालीन असंख्य **बखरों** में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शायद वह है जिसे चितनिस ने लिखा (1810 में सम्पूर्ण किया गया) आरंभिक समय के लिए उसका प्रधान आधार सभासद् प्रतीत होता है, जिसमें अन्य स्रोतों में से परम्परागत कथाओं के विषय जोड़ दिये हैं। फिर वह मुगलों के विरुद्ध राजाराम के युद्ध से आरंभ करके अपने समय तक का निरन्तर इतिहास इसमें जोड़ देता है। वह उस समय मराठा सेनाओं (कुल मिलाकर 1,00,000 पुरुष) के कार्यशील होने का वर्णन करता है, चेंजी में दस सहस्र और शेष में से अधिकतम महाराष्ट्र के विभिन्न भागों में। इनमें से दस सहस्र का एक गतिशील दल, और बीस सहस्र को एक अन्य सेना दक्षिण में चेंजी को मुक्त करवाने के लिए आगे प्रयाण करके राजाराम की सहायता के लिए (लगाई गयी।) आठ वर्षों तक विरोध में रहने के पश्चात् राजाराम ने चेंजी छोड़ दी और महाराष्ट्र को लौट आया जहां पर लुका-छिपा युद्ध सफलतापूर्वक किया जाता रहा था। औरंगजेब एक के पश्चात् दूसरा विरोध करने में अपने साधनों को क्षीण कर रहा था, और किसी समय भी देश में अपनी स्थिति को संगठित करने में समर्थ हो सका।

1700 में राजाराम ज्वर से मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसकी अग्रमहिषी ताराम्बा (तारअस) ने युद्ध को परम शक्तिमत्ता से जारी रखा। वह असाधारण साहस तथा आकांक्षा वाली एक स्त्री थी जो अपने शिशु पुत्र के नाम से शासन कर रही थी। उसके सेनापतियों ने (मुगल) साम्राज्य की सेनाओं को पूर्णतया अभिभूत कर दिया जो कि देश भर में फैली हुई थी और जो दुर्ग खोये जा चुके थे उनको पुन जीतकर (मुगल सेना) को बाहर धकेलना आरंभ कर दिया और 1706 तक उसकी सेना पर निरन्तर आक्रमण करके औरंगजेब को संशयारूढ़ होकर भी सेना समेत पीछे हटने पर बाध्य कर दिया। 1707 में औरंगजेब की मृत्यु हो गयी, जिस पर उसके पुत्रों में उत्तराधिकार की प्राप्ति के लिए युद्ध आरम्भ हो गया, जिनमें से एक ने शम्भु के एक छोटे बेटे साहु को, जो अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् बन्दी बना लिया गया था, अनुमानतः इस आशा से कि (ऐसा करने से) मराठों में जिनमें से कुछ उसको अपना वैध राजा स्वीकार कर लेंगे, भेद पड़ जायेगा, मुक्त कर दिया। वस्तुतः यही हुआ, परन्तु मराठा नेताओं में से अधिकतम शीघ्र ही साहु के पक्ष में हो गये और उस को यह अनुभव हुआ कि एक शक्तिशाली राज्य उसके हाथ में है। तथापि उसने अपने मन्त्रियों का इतना अधिक सहारा लिया जितना उसके पूर्ववर्ती राजाओं ने नहीं लिया था और कुछ वर्षों के पश्चात् महाराष्ट्र का क्रियात्मक शासन प्रधान-मन्त्री के हाथ में था, राजा के हाथ में नहीं। (वस्तुपाल के समय में (तेरहवीं शताब्दी) गुर्जर शासन के साथ यहां एक रोचक समानता प्रस्तुत होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि वस्तुपाल व्यापारी वर्ग में से था और अर्थ विशेषज्ञ होने के साथ-साथ वह युद्ध-नीति में भी कुशल था, जबकि महाराष्ट्र के प्रधान-मन्त्री ब्राह्मण थे और प्राथमिकता से योधा) साहु के राज्यशासन के अन्त पर उसकी मृत्यु 1749 में हुई। पुनः आरंभ हुए उत्तराधिकार के संघर्ष अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त ताराबाई ने पुनः हस्तक्षेप किया) का वर्णन चिटनिस ने विस्तार से किया है। राजकुल में इस कलहकलाप का वास्तविक परिणाम यह हुआ कि उनकी शक्ति का लोप हो गया, और उस समय से आगे तक के लिए महाराष्ट्र में प्रधान-मन्त्री सर्वोपरिस्थ शासनकर्ता बन गया।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में औरंगजेब की पराजय से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक, मराठा राज्य भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था। अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में इसका शासन भारत के अधिकतर भाग पर फैला हुआ था। घटनाओं के वृत्तान्त जैसा कि एक चिटनिस का था बहुत से अन्य (इनमें अधिक संख्या की रचना अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई। संभवतः यह उस समय की संकटकालीन समस्याओं के उत्तर के रूप में ऐसा हुआ।) हमें मराठा राष्ट्र के शासन-कर्ताओं तथा चिन्तनशील व्यक्तियों के इतिहास

के विषय में जो विचार थे उनका साक्षात् करवाते हैं जो कि इतिहास-लेखन की प्राचीन भारतीय परम्पराओं के सांचे में ढाले गये हैं। वे पुराणों तथा वंशों के मध्यकालीन इतिहास की सीधी परम्परा बनाती हैं और उनसे पहले आने वाली (कृतियों) की आधारभूत धारणाओं में भाग लेती हैं। अभी तक आदर्शवाद की दृष्टि से उनके अध्ययन के विषय में न के बराबर कार्य हुआ है। उनको केवल तथ्यों की खानें ही समझा गया है और हम मराठी के क्षेत्र में विद्वानों के, भविष्य में होने वाले अध्ययन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जो संकटकालीन अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों में प्रचलित भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे।

उत्तरकालीन मराठा इतिहास लेखकों के कार्य का अवलोकन रुचिकर होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर भाग में भारतीय इतिहास पर औपनिवेशक दृष्टि से लिखी गयीं आंग्लदेशीयों की रचनाओं के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया खड़ी हो गयी। आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित किये गये और प्राचीन मराठी घटना-वृत्तान्तों तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रंथ छापे गये। अपनी पुस्तक, Rise of the Maratha Power, में (1900 में अंग्रेजी में प्रकाशित) रानाडे, सत्रहवीं शताब्दी की महाराष्ट्र की घटनाओं को भारतीय राष्ट्रीय भावना तथा भारतीय धर्म के पुनरुत्थान के रूप में देखता है और यह आशा प्रकट करता है कि इनसे भारत की (अकेले महाराष्ट्र की नहीं) भावी राष्ट्रीय एकता का मार्ग परिकल्पित हो गया है। राजवाडे ने महाराष्ट्र के इतिहास सम्बन्धी लेख-पत्रों का संग्रह करना तथा उनको अपने **मराठ्यंचया इतिहासाचिन साधनेन्** (मराठों के इतिहास के स्रोत) में प्रकाशित करने के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया। (उसकी मृत्यु 1926 में हुई) इन ग्रंथों में उसने अपने टिप्पण भी साथ जोड़ दिये क्योंकि उसने ऐतिहासिक हलचलों की धार्मिक व्याख्या की नयी विधा का विकास कर लिया था जिसमें एक विशिष्ट महाराष्ट्र-धर्म (अर्थात्) महाराष्ट्र की जनता की भावना सम्मिलित थी। उसने प्राचीन भारत के सामाजिक इतिहास लिखने का कार्य हाथ में लिया जिसमें वेदों, **महाभारत** और पुराणों का स्रोतों के रूप में प्रयोग किया। यह कार्य विशुद्ध कट्टर धार्मिक दृष्टिकोण (वालों) की कटु आलोचना का आमंत्रण करने से बच न सका। उसके समय से लेकर असंख्य लेखक मराठा इतिहास पर शोध-कार्य करते आए हैं तथा इसकी व्याख्या के सम्बन्ध में विवाद पूरी शक्ति के साथ जारी हैं।

अध्याय-27

उपसंहारिक टिप्पण

पूर्ववर्ती अध्याय उन ऐतिहासिक ग्रन्थों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करने में अभी बहुत पीछे हैं जिनके भारत में विद्यमान होने का हमें ज्ञान है। उनका अधिकतर उद्देश्य इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को जैसे-जैसे समय की प्रगति के साथ-साथ यह विकसित हुआ, भिन्न-भिन्न समयावधियों तथा भारत के भिन्न-भिन्न भागों से उदाहरण देकर, संक्षेप में उपस्थित करने का है। आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणा इन ग्रन्थों को केवल घटनात्मक होने के स्थान पर अधिकतर साहित्यिक समझकर इनकी उपेक्षा करती है। इसके स्थान पर यह दूसरे स्रोतों पर पूर्ण अवधान देती है। विशेषतः पत्थर तथा धातु पर (उत्कीर्ण) अभिलेखों की समृद्ध परम्परागत सम्पत्ति जो भारत के सब भागों में पायी जाती है, और जिनमें घटनाओं के दृष्टिकोण से समकालीन अथवा समकालीन प्रायः लेख होने का परमोत्कृष्ट गुण है (इसके अवधान का पात्र है)।

इन अभिलेखों में से बहुत से पर्याप्त विस्तृत हैं और प्रायः वे वर्तमान राजा के पूर्वजों के जीवन तथा चरितों का विवरण प्रस्तुत करते हैं, और साथ ही उसके अपने जीवन तथा चरित का भी वे उसी परम्परा का अंग है जिसका अधिक साहित्यपरक ग्रन्थ जो हम तक हस्तलिखित प्रतियों के रूप में पहुंचे हैं, और जिनसे हमें पूर्ववर्ती अध्यायों के लिए सामग्री प्राप्त हुई है। वे वास्तविक रूप में प्राचीन इतिहास-लेखन से अधिक विस्तृत वर्णन के लिए अक्षय्य सामग्री उपस्थित करते हैं, जिससे हमारा यह सर्वेक्षण अनेक बिन्दुओं पर सम्पन्न बनाया जा सकता है, जिनके विषय में हमारे पास साहित्यिक इतिहास नहीं हैं। अपनी सामग्री को अधिक सुनियन्त्रित अनुपात में रखने के लिए सीमित करने के निमित्त तथा एक मात्र विशुद्ध साहित्यिकदृष्टि अपनाकर और प्रामाणिक लेखों (के उद्धरण देने की प्रथा को छोड़कर) एक सुगम मार्ग के रूप में पुराभिलेख बीच में नहीं लिखे गये। स्वयं ऐतिहासिक साहित्य का अध्ययन भी कुछ एक प्रकार से सीमित किया गया है। जिन ग्रन्थों के नमूने हमने ऊपर दिये हैं, उनके अतिरिक्त साहित्यिक

ग्रन्थों के अनेक ऐसे वर्ग हैं, जो कम से कम आंशिक रूप में इतिहास-विषयक हैं। इस प्रकार असंख्य ऐतिहासिक नाटक हैं, जैसे विशाखदत्त के (छठी शताब्दी), जयसिंह (तेरहवीं शताब्दी वस्तुपाल पर लिखा गया) अथवा गंगाधर (पन्द्रहवीं शताब्दी) जिनमें से कुछ का प्रयोग ऐतिहासिक सूचना के स्रोतों के रूप में किया गया है यद्यपि प्रकृति से ही वे महाकाव्यों तथा जीवन-चरितों से अधिक द्वितीय श्रेणी में आते हैं। प्रत्येक समय में भारतीय लेखकों ने **महाभारत** तथा **पुराणों** की कहानियों को नया रूप देकर प्रस्तुत किया है। ये इस दृष्टि से भले ही रुचिकर हों कि वे यह सूचना देते हैं कि भिन्न-भिन्न समयों में इन कथानकों की व्याख्या किस प्रकार की जाती थी, परन्तु वे प्राचीन काल के विषय में हमारे ज्ञान की किंचिन्तमात्र वृद्धि नहीं करते। यदि हम अपने सर्वेक्षण का विस्तार सामाजिक इतिहास के क्षेत्र में कर दें, हमें बहुत से ग्रन्थों को संगृहीत करना होगा, जो कि अधिकतम **काव्य** शैली में हैं, जो समकालीन जीवन के यथार्थ वर्णन उपस्थित करते हैं। नाटकों में **प्रहसन** और **भाण** हैं, विशेषतः उत्तरोक्त। यह ऐसी विधा है जिसमें उन बड़े नगरों के जहां पर ये नाटक लिखे जाते थे, (जैसे कि पाटलिपुत्र उज्जयिनी, विजयनगर) व्यक्तिगत जीवन की प्रतिनिधि झाकियां आचार की रीति से प्रस्तुत की जाती थीं। पद्य और चम्पू के रूप में और भी व्यंग्यात्मक रचनाएं हैं, जैसे दामोदर गुप्त (आठवीं शताब्दी) की क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शताब्दी) की नीलकण्ठ (सत्रहवीं शताब्दी) की, वेंकटाध्वरी (सत्रहवीं शताब्दी) की और रामचन्द्र (अठारहवीं शताब्दी) की। अहोबल का **विरूपाक्ष वसन्तोत्सव** (चौदहवीं शताब्दी) विजयनगर (विद्यानगर) में कौमुदी-महोत्सव का एक अत्यन्त विनोदप्रद वर्णन है, जिसमें लोभी ब्राह्मणों पर कुछ सुन्दर व्यंग्य कसे गये हैं। परन्तु इसका हास्य रस प्रायः उन आलोचनात्मक रचनाओं की अपेक्षा अधिक करुणापरक है। अपने समय के सामाजिक तथा कुछ सीमा तक राजनीतिक इतिहास के लिए यह ग्रन्थ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। विद्यानगर के प्रथम (संगम) वंश को यहां पर चन्द्रवंश कहा गया है। यह एक ऐसी याचना है जिसको हमने उनके सम्बन्ध में ऊपर नहीं पाया और इसका आगे स्पष्टीकरण भी नहीं किया गया। एक अज्ञात लेखक का चम्पू—**सर्वदेव विलास** जो मद्रास में 1800 के आसपास लिखा गया, वाणिज्य के उस नगर के सांस्कृतिक जीवन का वर्णन करता है, जबकि यह पहले ही हूणों (अंग्रेजों) के हाथ में जा चुका था जिनका राक्षसी राज्य जनता के गुणों को भ्रष्ट करने वाला सिद्ध होता है। सामाजिक इतिहास के अन्य समृद्ध स्रोत हैं सोमदेव का दीर्घ चम्पू **यशस्तिलक** (दशम शताब्दी) तथा चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर तृतीय (**विक्रमाभ्युदय** का लेखक जिसकी विवेचना ऊपर की जा चुकी है) का लिखा हुआ विश्वकोष **अभिलषितार्थ चिन्तामणि** (बारहवीं शताब्दी)। यहां से हम **धर्मशास्त्र** पर दृष्टिपात करेंगे, जो कि भारतीय

इतिहास के प्रत्येक काल के लिए विस्तार में (उपलब्ध है), तथा प्रशासन और अर्थ पर एकमात्र विद्यमान **अर्थशास्त्र** उत्तरोक्त स्वयं **धर्मशास्त्र** तथा **अर्थशास्त्र** का वर्गीकरण **इतिहास** के अन्तर्गत ही करता है। मल्लनाग वात्स्यायन का **कामसूत्र** (ई० पू० तृतीय शताब्दी) सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का एक और महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

तुर्कों और अंग्रेजों ने भारत पर अपने शासन के इतिहास लिखे हैं। भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की अपनी योजना के अनुसार हमने उनका उल्लेख नहीं किया।

मराठा तथा कुछ अन्य लेखकों के अतिरिक्त जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में हमें कुछ विशिष्ट ग्रन्थों पर दृष्टि डालनी चाहिए। कुछ भारतीय इतिहास-लेखकों ने आंग्ल-भाषा में लिखा है, विशेषतः आंग्ल शासन के चरमोत्कर्ष के समय में जब कि विशाल जन-समूह तक पहुंचने के लिए आंग्ल भाषा सर्वोत्तम माध्यम प्रस्तुत करती हुई प्रतीत होती थी, और संभवतः प्रशासन पर प्रभाव डालने के लिए भी। इस प्रकार की रचनाओं में, आंग्ल-शासन के अधीन भारत के आर्थिक इतिहास पर, रोमेशचन्द्र दत्त के दो ग्रन्थ हैं (1901 तथा 1903 में प्रकाशित)। पन्द्रह वर्ष पहले उसने Civilisation in Ancient India, तीन भागों में लिखी थी जिनमें उसने एक ओर तो तीव्र राष्ट्रवाद और भारत पर अंग्रेजी रचनाओं के ईसाईयों द्वारा युक्ति-युक्त समर्थन, और दूसरी ओर भारतीय लेखकों द्वारा इसका तीव्र विरोध जो भावावेश से अपनी संस्कृति और अपने धर्म का संरक्षण कर रहे थे। यह स्वाभाविक था कि दोनों ही पक्ष उससे अप्रसन्न हो जाते। आंग्ल-शासन का उसका तथ्यात्मक सर्वेक्षण तथा इसके प्रभाव बहुत अधिक स्थायी मूल्य का है। काशी प्रसाद जायसवाल की विविध रचनाओं ने आधुनिक भारतीय दृष्टिकोण के विकास पर प्रबल प्रभाव डाला है। प्राचीन इतिहास-लेखन के अध्ययन का पुनरुत्थान करने में, (उदाहरणार्थ-मन्जु श्रीमूल कल्प-1934 में, प्राचीन इतिहास लेखन **पुराण** इत्यादि) तथा पुराभिलेखों द्वारा 'तमो-ग्रस्त' युगों को प्रकाश में लाने में तथा प्राचीन राजनीतिक संस्थाओं को प्रकटरूप में लाने में (अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Hindu Polity-1924)में। 1947 से के०एम० पनिक्कर ने योरप के औपनिवेशिक दृष्टिकोण के विरुद्ध एक भारतीय अथवा एशियाई दृष्टिकोण की पुनः स्थापना के लिए 'A Survey of Indian History' तथा 'Asia and Western Dominance' लिखे हैं। मराठा मार्क्सवादी लेखक एम० ए० डाङ्गे ने, यद्यपि वह एक लेखक की अपेक्षा अधिकतर राजनीतिज्ञ है, (जब वह 1942-43में अंग्रेजों के जेलखाने में था—जब तक 1949 में उसकी पुस्तक प्रकाशित हुई वह कांग्रेस की जेल में था) भारत में सभ्यता के उद्गम की खोज, **वेद** और **इतिहास** की परम्पराओं के

साधन से, अपनी पुस्तक 'India—From Primitive Communism to Slavery' में की है। यह एक अनूठी अग्रवर्ती रचना है, जिसने भारतीय ऐतिहासिक गवेषणाओं में नयी विचारधाराएं प्रविष्ट कर दी हैं, परन्तु ऐसा, परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण से मूल-पाठ के टिप्पण के रूप में भीतर से ही किया गया है, क्योंकि लेखक संस्कृत का एक विद्वान् है और अपने दृष्टिकोण में एक शक्तिशाली भारतीय राष्ट्रवादी। अधिकतम अन्य भारतीय मार्क्सवादी लेखक अपने विषय पर, भारत पर लिखी गयी आंग्ल रचनाओं के दृष्टिकोण से पहुंचते हैं, अर्थात् आंग्ल-भाषा में लिखे द्वितीय श्रेणी के स्रोतों से, जिनका दृष्टिकोण विदेशी तथा भारत विरोधी होता है। यदि डाङ्गे ने किसी भी दृष्णि-कोण से, स्वीकृत करने योग्य सिद्धान्तपक्षों से कहीं अधिक समस्याएं उपस्थित कर दी हैं, तो समस्यों का यह बाहुल्य ही उसकी कृति का वास्तविक गुण है, जिसके साथ ही उसकी यह खोज भी है कि प्राचीन भारतीय साहित्य सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक इतिहास की सामग्री में इतना समृद्ध है, यद्यपि यह प्राचीन धार्मिक धारणाओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया है जब कि 'आधुनिक' दृष्टिकोण रखने वाले इतिहासकारों ने इस सब को केवल काल्पनिक देवाख्यान मान कर निराकृत कर दिया था।

हिन्दी में बीसवीं शताब्दी की ऐतिहासिक रचनाओं में तीन प्रमुख कृतियां उल्लेख के योग्य हैं। जयचन्द्र की **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** जो 1933 में प्रकाशित हुई, प्राचीन काल के विषय में है (जिसमें सातवाहन भी शामिल हैं) भारतीय इतिहास के वर्तमान आंग्ल सिद्धान्त के सीधे विरोध में वह भारतीय दृष्टिकोण को इस तर्कयुक्त आशा से प्रस्तुत और विकसित करता है कि इससे समस्याएं अधिक अच्छे प्रकार से समझ में आ जायेंगी। जयचन्द्र को जायसवाल का अनुयायी माना जा सकता है। गौ० ही० ओझा ने 1925 और 1941 के बीच राजस्थान के इतिहास पर पांच ग्रन्थ प्रकाशित किये **राजपूताने का इतिहास** जिसका उल्लेख अधिक औचित्य से ऊपर अध्याय तेरह में किया जाना चाहिए था। (लेखक का जन्म राजस्थान में हुआ था और उसने मेदपाट और सपादलक्ष्य के संग्रहालयों में अपने जीवन का अधिकतम भाग बिताया) उसने एक विस्तृत तथा परिपूर्ण रचना का निर्माण करने के लिए समस्त उपलभ्य स्रोतों का प्रयोग किया और इसको मराठों तथा अंग्रेजों के साथ सम्बन्धों के आधुनिक काल तक पहुंचाया। उसका दृष्टिकोण भारतीय परम्परानिष्ठ है, और तुर्क आक्रमणों के समक्ष भारतीय राज्यों की राजनीतिक असफलता का विवेचन करते हुए इसका कारण, प्रशासन के प्राचीन स्तरों और शिक्षा का आन्तरिक ह्रास निर्दिष्ट करता है। भगवद्दत्त का **भारतवर्ष का बृहद् इतिहास** (प्रथम भाग, 1951) स्पष्ट रूप में एक सर्वाङ्गीण ग्रन्थ के रूप में परिकल्पित किया गया है और उन भारतीय इतिहासकारों के विरोध में लिखा गया है जिनका प्रशिक्षण

आंग्ल शिक्षण-संस्थाओं में हुआ है, और जो अपने विदेशी प्रभुओं के मानसिक दास हैं। उनकी कृति तथ्य परक होने की अपेक्षा विवादात्मक अधिक है। इसकी विशेषता यह है कि यह एक दृष्टिकोण प्रतिष्ठित कर देता है, और जिसको वह भारतीय इतिहास की विकृति समझता है और प्राचीन परम्परा की व्याख्या करने के स्थान पर वह जिसकी आलोचना करता।

उपसंहार में अपने निर्णीत तथ्यों का कुछ एक वाक्यों में संक्षेप प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। **पुराण**, प्राचीन इतिहास का सर्वाङ्गीण दृश्य प्रस्तुत करते हैं—राष्ट्र के उद्भव से लेकर अथवा अन्ततोगत्वा विश्व की सृष्टि से प्राचीनतम परिगणित राजाओं में से होकर अंत में ईशु पश्चात् चतुर्थ शताब्दी में प्राचीन वंशों पर्यन्त एक सार्वभौम इतिहास। इस शताब्दी के अंत में वे गुप्तों का नामोल्लेख करते हैं, और विशेषतः आरंभिक वाकाटकों का। प्राचीन इतिहास पर विभिन्न बौद्ध तथा जैन ग्रन्थ प्रतिबन्ध प्रस्तुत करते हैं, तथा इस इतिहास के परिशिष्ट विशेषतः अन्तिम एक सहस्र वर्ष अथवा इसके आस-पास के समय के लिए। इन तीनों परम्पराओं के आलोचनात्मक संग्रह से समस्त भारतीय इतिहास के लिए हमें काल गणना के लिए एक ठोस आधार प्राप्त हो जाता है जिसमें सिंहल के बौद्ध ग्रन्थ जो सबसे अधिक सुरक्षित रह सके हैं, और जो वर्तमान समय तक एक निरन्तर काल-क्रम उपस्थित करते हैं। निश्चित रूप से सिद्ध काल गणना की ताली का काम करते हैं। स्वतन्त्र जैन परम्परा काल-गणना के विषय में बौद्ध परम्परा का प्रायः समर्थन करती है। इससे यह प्रकट होता है कि चतुर्थ शताब्दी के पश्चात् ब्राह्मण काल-गणना में त्रुटियां उत्पन्न हो गयीं। भारतीय बौद्ध ग्रन्थ (विशेषतः **मञ्जुश्री मूल कल्प** जिसमें गुप्त सम्राटों का उत्तराधिकार-क्रम दिया गया है। समुद्र-विक्रम-महेन्द्र-स्कन्ध) तथा जैन ऐतिहासिक ग्रन्थ जो मगध के राजवंशों का पाल राजाओं पर्यन्त; पांचाल (कान्यकुब्ज) के वंशों का गुर्जर-प्रतिहारों पर्यन्त, गुर्जर के राजवंशों का मैत्रकों से चौलुक्यों तक सार्वभौम इतिहास को आगे ले जाते हैं, परन्तु दक्षिण के राजाओं का उल्लेख सातवाहनों से लेकर राष्ट्रकूटों पर्यन्त बीच-बीच में छोड़ कर किया गया है। इस अवधि के इतिहास की परिपूर्ति कभी-कभी जीवन-चरितों या व्यक्तिगत रूप में राजाओं पर लिखे गये महाकाव्यों से हो जाती है यद्यपि बहुत थोड़े (महाकाव्य) उपलब्ध हैं (बाण, वाक्पतिराज)। दशमी शताब्दी के पश्चात् सुरक्षित ग्रन्थों की संख्या समानगति से बढ़ती जाती है, जैसे-जैसे काल की दुर्घटनाएं कम होती जाती हैं।

उत्तर-मध्य काल में हमें इस सार्वभौम इतिहास की समग्र प्रगति उपलब्ध नहीं होती। स्पष्ट रूप में तुर्कों के आक्रमणों के कारण भारत के राजनैतिक दृष्टि से खण्ड-खण्ड हो जाने का यह परिणाम था। इनके स्थान पर भारत में स्वतन्त्र

प्रदेशों के पृथक्-पृथक् इतिहास बड़ी भारी संख्या में विद्यमान हैं जिनके दृष्टिकोण का परिमाण भिन्न-भिन्न है, परन्तु प्रत्येक प्रदेश में इसको पुराणों की प्राचीनता तथा सार्वभौम इतिहास के साथ जोड़ दिया है और सद्यः भूतकाल तक निरन्तर विवरण प्रस्तुत कर दिया गया है जैसा कि सिंहल की परम्परा में किया गया है जैसा कि पूर्वगत सन्दर्भ में उल्लिखित किया गया है। इसी प्रकार तीर (तिरहुत) और नेपाल में लिच्छवि राजाओं के लिखित वृत्तान्त बचे रह गये हैं जो गुप्त-युग में पहुंच जाते हैं चाहे वे स्वतन्त्र रहे हों अथवा गुप्तों के अधीन और दोनों का सम्बन्ध अशोक मौर्य से जोड़ देते हैं। नेपाल के ऐतिहासिक अभिलेख विभिन्न मल्लों को सम्मिलित कर देते हैं और अन्त में गोरखों को। इसी प्रकार ओड़ीसा (कलिंग) में पुराणों के प्राचीन समय से लेकर केशरी गंग, गजपति, मुकुन्द, मुगलों के अधीन खुरजा के राजा और अठारहवीं शताब्दी में मराठा विजय पर्यन्त निरन्तर अभिलेख विद्यमान है। विक्रमादित्य के साथ 58 ई० पू० के एक सम्वत्सर को जोड़ देने की अशुद्ध धारणा के कारण काल-क्रम में भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह धारणा धीरे-धीरे सब प्रदेशों के अभिलेखों पर लागू कर दी गयी। जहां-जहां गुप्तों ने शासन किया था। स्पष्टतः यह ब्राह्मण ऐतिहासिक शाखाओं के विद्वानों द्वारा सम्पन्न किया गया जो इन प्रदेशों में यात्रा करते थे और जिन्होंने अपने अधिकार का प्रयोग सुविख्यात राजा विक्रम की काल-गणना का संशोधन करने के लिये किया। यदि हम इस 'संशोधन' को शुद्ध कर दें तो हम सातवाहनों, मुरुण्डों (यवनों) गुप्तों और तब कलिंग में केशरियों के संभाव्य मूल क्रम को पुनः स्थापित कर सकते हैं तथा इसी प्रकार अन्य अन्तर्गत प्रदेशों के अभिलेखों की पुनर्व्यवस्था भी कर सकते हैं। अपि च असम (कामरूप) में परम्परागत वार्ता के अनुसार भारत-युद्ध के काल को (तथा उससे पहले के समय को) आधुनिक काल तक विक्रमादित्य के आक्रमण के साथ जोड़ देती है। इसी प्रकार कश्मीर में हमारे पास एक देश का इतिहास है जिसमें पुराणों के समय से उत्तरोत्तर वंशक्रम दिया गया है जिसके अन्तर्गत कुषाण आ जाते हैं और यह नीचे तक (चलता है)। इसमें भी विक्रमादित्य को स्थानान्तरित कर दिया गया है, जिससे काल-गणना में अशुद्धि आ जाती है जिसको वृत्तान्त में मिश्रित कर देने का प्रयास मिल जाता है। जेजाक (भुक्ति) में इसी प्रकार का लिखित वर्णन था जिसके केवल कुछ खण्ड ही विद्यमान हैं जो 'तीन वंशों' अर्थात् गुप्त राजाओं के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में हैं। गुर्जर में गुप्त राजाओं के स्थान पर उनके सामन्त मैत्रक आ जाते हैं (परन्तु कथानकों के विक्रमादित्य को प्रसंगवश पहले रख दिया गया है)। इनके पश्चात् चापोत्कट और चौलुक्य आ जाते हैं। दक्षिण में गंग राजाओं के विषय में दक्षिण-कर्णाटक में एक परम्परागत वृत्तान्त है जिनके पश्चात् होय्सल, संगम इत्यादि (राजवंश) हैं और पहले कुछ राष्ट्रकूट हैं जिनका

सम्बन्ध 78 ई० प० वाले सम्वत्सर से है। केरल में प्रमुख परम्परागत वृत्तान्त का आरम्भ परशुराम के विषय में पुराणों की प्राचीन कथा से होता है और राज-तन्त्रात्मकता गणतन्त्रात्मक प्रशासनों के उत्तरोत्तर क्रम से जारी रहता है। उत्तर केरल में हमें एक स्थानीय वंशानुचरितमिलत है जो उन हैहय (यादव) राजाओं के विषय में है जिनको केवल ऐसा मान लिया गया है और जो वहां पर उसी परशुराम द्वारा आवासित किये गये थे।

राजस्थान का परम्परागत ऐतिहासिक वृत्तान्त इन देशों के परम्परागत वृत्तान्तों से मूलतः भिन्न है क्योंकि यह वंशों के वृत्तान्तों का बना हुआ है। ये (वंश) अपने भागधेय के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ अपने देश बदल सकते थे और प्रायः ये राजस्थान में सीमित नहीं हैं परन्तु सार्वभौम प्राचीन विख्यात वंशों से अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं। इसके अनुसार ही यह लिखित-वृत्तान्त भिन्न-भिन्न स्थानों पर उत्तरोत्तर आने वाले राजवंशों को एक ही वंश के रूप में दर्शाते हैं हैं और किसी भी देश के पूर्ण इतिहास को प्रकट नहीं करते। उदाहरणार्थ गुहिल पुत्र गुर्जर के मैत्रकों से अपना उद्गम सिद्ध करते हैं और अन्ततोगत्वा मूल सूर्य-वंश से (जोड़ देते हैं)। जैसलमेरु के यादव अपने इतिहास, मध्यकालीन जागुड़ में से निकालकर, कृष्ण के प्राचीन सौराष्ट्र (गुर्जर) में ले जाते हैं। अन्य वंश कान्य-कुब्ज के नरेशों से अपने इतिहास को निकालते हैं इत्यादि-इत्यादि। राजस्थान के बाहर भी इसी प्रकार के इतिहास मिलते हैं तथा प्राचीन तमिल (पाण्ड्य, चोल, पल्लव) के लिखित-वृत्तातों का भी इसी प्रकार का वंशपरक स्वरूप है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची
BIBLIOGRAPHY

Abhayatilaka : commentary on *Dvyāśraya*, see under Hemacandra.

Abhayavilāsa (MS at Jodhpur).

Abhidharmapiṭaka (collection of philosophical texts of the Buddhists, among which the *Kathāvatthu*, q.v., embodies historical materials).

Ācārāṅga, ed. Jacobi, London (Pali Text Society), 1882; translated by Jacobi, London (Oxford University Press, Sacred Books of the East, Vol. XXII), 1884.

Agastya (Vidyānātha) : *Bālabhārata*, ed. Subrahmanya, Srirangam (Vani Vilas Press), 1939 (cantos I–III only).

Agni Purāṇa, Poona (Ānandāśrama), 1900; translated by M. N. Dutt, Calcutta, 1903.

Ahobala : *Virūpākṣavasantotsava*, ed. Panchamukhī, Dharwar (Kannada Research Institute), 1953.

Ajitodaya (MS at Jodhpur).

Ālhā Rāso, see Jagnaik Rāo.

Ananta (I) : *Bhojarājīyam* (Telugu).

Ananta (II) : *Campūbhārata*, ed. Nārāyaṇa Rāma Ācārya, Bombay (Nirṇaya Sāgara Press), 5th edn. 1950.

Anantanārāyaṇa : *Śarabhojicarita* (MS in Tanjore).

Aniruddha : *Śivarājarājyābhiṣekakalpataru*.

Antakṛtadaśaka, ed. Bombay (Āgamodaya Samiti), 1875.

Arisiṃha : *Sukṛtasaṃkīrtana*, ed. Caturavijaya, Bhāvnagar, 1917.

Aśokāvadāna (Taishō 2042 and 2043)—Przyluski : *La légende de l'empereur Açoka*, Paris (Annales du Musée Guimet), 1923.

Aśvaghoṣa : *Buddhacarita*, ed. (I. 8 to XIV. 31) and translated (I to XIV) by Johnston, Calcutta (Panjab University Oriental Publications), 1935–6; XV to XXVIII translated by Johnston in *Acta Orientalia*, 1937.

Atharvavedasaṃhitā ed. (Śaunaka recension) Roth and Whitney, Berlin, 1856ff., 2nd ed. Lindenau, 1924; translated by Griffith, Benares (Lazarus), 1895–6, also by Whitney, reprinted Delhi (Motilal Banarsidass), 1962.

Aṭṭhakathā : on the Pali *Vinayapiṭaka* = *Samantapāsādikā* by Buddhaghosa ed. Takakusu, Nagai and Mizuno, London (Pali Text Society), 1924–47 (7 vols.); introductory historical part translated by Jayawickrama as *Inception of Discipline*, London (Pali Text Society), 1962; the sub-commentary by Sāriputta, *Sāratthadīpanī*, Rangoon, 1902–24 (4 vols.), adds further information.

——on the *Jātaka*, beginning with the *Nidānakathā*, ed. FausbØll London, 1877–96 (recently reprinted by the Pali Text Society); *Nidānakathā* translated by Rhys Davids as *Buddhist Birth-Stories*, London (Routledge), new edition (no date, about 1925).

——on the *Kathāvatthu* by Buddhaghosa, ed. Minayev, London (*Journal of the Pali Text Society*), 1889; translated by B. C. Law as *The Debates Commentary*, London (Pali Text Society), 1940 (also summarised in translation of *Kathāvatthu*, q.v.).

Atula : *Mūṣakavaṃśa*, Trivandrum (Travancore Archaeological Series 87ff.) (only *part*).

Avadānas, see under *Aśokāvadāna*, *Divyāvadāna*.

Āvaśyakasūtra, ed. Bombay (Āgamodaya Samiti Granthoddhāra), 1916-7.

Ayyāvāḷ, see under Veṅkaṭeśa.

bakhars, see under Citnis, Dattājī, Sabhāsad.

Bālacandra : *Vasantavilāsa*, ed. Dalal, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1917.

Bāṃkīdāsa : *Khyāta*, Jayapura (Rājasthāna Purātana Granthamālā), 1956.

Bāṇa : *Harṣacarita*, ed. Śūranāḍ Kuñjan Pilla, Trivandrum (Sanskrit Series), 1958; translated by Cowell and Thomas, London (Royal Asiatic Society), 1897.

Basava : *Śivatattvaratnākara*, Madras.

Bhagavaddatta : *Bhāratvarṣa Kā Brihad Itihāsa*, 1951.

Bhāgavata Purāṇa, ed. and translated by E. Burnouf and others, Paris, 1840–98 (5 vols.); ed. Paṇśikar, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1920 (12 vols.); translated by M. N. Dutt, Calcutta, 1895.

Bhāravi : *Kirātārjunīya*, ed. Nārāyaṇa Rāma Ācārya, Bombay (Nirṇaya Sāgara Mudraṇālaya), 14th ed. 1954; translated by Cappeller, Cambridge Massachusetts (Harvard Oriental Series), 1912.

Bhāvaviveka : *Nikāyabhedavibhaṅgavyākhyāna* (in the Tibetan *Tripiṭaka*), translated by Bareau, Paris (*Journal Asiatique*, 1956, pp. 167ff.).

Bhaviṣyant Purāṇa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1897.

Bilhaṇa : *Vikramāṅkadevacarita*, ed. Bühler, Bombay (Sanskrit Series), 1875; ed. Vishwanath, Banaras (Hindu University), 1958, 1962, 1964; translated by S. C. Banerji and A. K. Gupta, Calcutta (Sambodhi Publications), 1965.

Brahmāṇḍa Purāṇa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1913.

Brahman Purāṇa, Poona (Ānandāśrama), 1895.

Brahmavaivarta Purāṇa, ed. Jīvānanda Vidyāsāgara, Calcutta, 1888; translated by R. N. Sen, Allahabad (Sacred Books of the Hindus), 1920–2 (2 vols.).

Bṛhadīśvaramāhātmya (*sthalapurāṇa* on Tanjore), MSS in Tanjore, extracts ed. as Appendix to *Colacampū* edn., see under Virūpākṣa.

Buddhaghosuppatti by Mahāmaṅgala ed. and translated by Gray, London (Luzac), 1892.

Buddhaputta : *Pūjāvaliya*, ed. Colombo, 1924, also ed. Saddhātissa, Kalutara, 1930.

Buddhavaṃsa, ed. Morris, London (Pali Text Society), 1882; translated by B. C. Law, London (Pali Text Society), 1938.

Bukkapatnam Raghavacaryulu : *Telugudeśacaritra* (Telugu), MS in Government Oriental Manuscripts Library, Madras.

buranjis, see under *vaṃśāvalīs*.

Bu-ston : *Chos-ḥbyung* ('Production of the Doctrine', *dharmodbhava*, explaining the origin and history of the texts of Buddhism as introduction to the Tibetan *Tripiṭaka*), translated by Obermiller, Heidelberg (Materialien zur Kunde des Buddhismus, Nos. 18 and 19), 1931–2.

Cac Nāma, translated in Elliot, *The History of India as told by its own Historians*, 2nd ed. Calcutta, 1952ff., Vol. XXV.

Candra (Hindi Cand) Bardāi : *Pṛthvīrājarāsa*, ed. Pandia and Das, Nāgarī Pracāriṇī, 1913.

Candraśekhara : *Sūrajanacarita*, ed. J. B. Chaudhari, Calcutta, 1951.

Caritrasundara : *Kumārapālacarita*, Bhāvnagar (Ātmānand Granthamālā) 1917.

Chāndogyopaniṣad, ed. Kāśīnātha, Puṇyā (Ānandāśrama), 1890; critical edn. Böhtlingk as *Khandogjopanishad*, Leipzig (Haessel), 1889; partly translated by Ruben in *Beginn der Philosophie in Indien*, Berlin (Akademie-Verlag), 1955.

Citnis Kṛṣṇājī : *Bakhar*, ed. S. N. Joshi, Poona, 1960.

'commentaries' (Pali, see *Aṭṭhakathā*).

Cūlavaṃsa, by Dhammakitti, Sumaṅgala and others, ed. Geiger, London (Pali Text Society), 1925–7 (2 vols.); translated by Geiger, Colombo (Government of Ceylon), reprint 1953, (2 vols.).

Dāmodara : *Śivavilāsa*, ed. S. K. Pillai, Trivandrum (Sanskrit Series), 1956.

Dāmodaragupta : *Kuṭṭanīmata*, ed. M. Kaul, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1944.

Daṇḍin : *Avantisundarī*, ed. S. K. Pillai, Trivandrum (Sanskrit Series), 1954 (incorporates some ancient history).

S. A. Dange : *India from Primitive Communism to Slavery*, Bombay (People's Publishing House), 1949.

Dāśarajña (*Ṛgvedasaṃhitā* VII. 18. 33, see *Ṛgvedasaṃhitā*).

Dattājī : *Bakhar* in 91 sections, ed. Wākaskar, Baroda, 1930.

Devarakṣita : *Nikāyasaṃgraha*, ed. de Silva, A. Gunasekera and Gunawardhana, Colombo (Ceylon Government Press), 1907; translated by Fernando, Colombo (Ceylon Government Press). 1908.

Dhammakitti, see under *Cūlavaṃsa* (first part).

Dhammanandin : *Sīhalavatthuppakaraṇa*, ed. Buddhadatta, Colombo, 1959.

Dharmaśāstra : the most important and earliest extant text is probably the *Mānava Dharmaśāstra* (though it appears to be later than Kauṭalya, so that it could not be intended by him, a reservation which seems to apply to all extant *Dharmaśāstras*), ed. Deslongchamps, Paris (Levrault), 1830; translated by G. Bühler as *The Laws of Manu*, London (Oxford University Press, Sacred Books of the East, Vol. XXV), 1886 (reprinted Delhi, Motilal Banarsidass). In due course 36 such

books of legal 'institutes' were recognised as authoritative during the medieval period, when almost all of them were written or rewritten. Of the medieval institutes that of Yājñavalkya is most important, Bombay (Nirṇaya Sāgara Press), 1949, translated by J. R. Gharpure, Bombay, 1936ff. See Kane, *History of Dharmaśāstra*, Poona (Government Oriental Series of the Bhandarkar Oriental Research Institute), 1930ff.

Dharmasvāmin, Biography of (Tibetan), translated by G. Roerich, Patna (K. P. Jayaswal Research Institute), 1959.

Ḍhuṇḍhirāja : commentary on the *Rāmāyaṇa* = *Dharmākūta* (sometimes ascribed to the minister Tryambaka), partly printed Srirangam (Vani Vilas Press) and completed in Tanjore (Sarasvati Mahal Library Series), 1951–1964.

———: commentary on the *Mudrārākṣasa*, ed. Telang, Bombay (Sanskrit Series), 1884.

Dīgha Nikāya, ed. Rhys Davids and Carpenter, London (Pali Text Society), 1890–1911 (3 vols., reprinted 1947–60); translated by Rhys Davids and C. A. F. Rhys Davids as *Dialogues of the Buddha*, London (Pali Text Society), 1899–1921 (3 vols., since reprinted); Chinese translation of *Dīrgha Āgama*, Taishō 1 in vol. I of the Taishō *Tripiṭaka* (ed. Takakusu and Watanabe, Tōkyō, 1924); a fragmentary Sanskrit text of the *Mahāparinirvāṇa Sūtra* has been ed. by Waldschmidt, Berlin (*Abhandlungen der Deutschen Akademie der Wissenschaften*), 1950–1 (3 parts).

Ḍiṇḍima, see under Rājanātha II and III and *Vibhāgaratnamālā*.

Dīpavaṃsa (anon.), ed. and translated by Oldenberg, London (Williams and Norgate), 1879; on its nature and interpretation see Eggermont, *The Chronology of the reign of Asoka Moriya*, Leiden (Brill), 1956.

Divyāvadāna, ed. Cowell and Neil, Cambridge, 1886; ed. Vaidya, Darbhanga (Buddhist Sanskrit Texts), 1959.

Romesh C. Dutt : *Civilisation in Ancient India*, Calcutta, 1889–90 (3 vols.).

———: *The Economic History of India under Early British Rule*, London (Routledge and Kegan Paul), 1956 (eighth impression, originally 1901).

———: *The Economic History of India in the Victorian Age*, London (Routledge and Kegan Paul), 1956 (eighth impression, originally 1903).

Eṭṭuttogai (collections of early Tamil poetry including the *Puṟanāṉūṟu* and *Padiṟṟuppattu*, q.v.), see Nilakanta's *The Cōḷas*, Madras (University Historical Series), 1955 (2nd ed.), for extracts.

A. K. Forbes : *Râs Mâlâ, Hindu Annals of the Province of Goozerat*, Oxford, 1924, (2 vols.).

Gaṅgā : *Madhurāvijaya* = *Vīrakamparāyacarita*, ed. and translated by Thiruvenkatachari, Annāmalainagar (Annāmalai University), 1957.

Gaṅgādhara (I) : *Mahābhārata* play (lost?).

Gaṅgādhara (II) : *Gaṅgādāsapratāpavilāsa* (MS in the India Office Library, London).

Gaṅgādhara (III) : *Bhosalavaṃśāvalī* (MS in Tanjore), part of *Rasikarañjanī* on *Kuvalayānanda*, ed. Hālāsyanātha, Kumbhakonam, 1892

(5 verses missing).

Garuḍa Purāṇa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1905; translated by M. N. Dutt, Calcutta, 1908.

Guṇabhadra : *Uttarapurāṇa,* ed. Pānnālāl Jain, Vārāṇasī (Bhāratīya Jñānapīṭha), 1954.

Halāyudha : *Kavirahasya,* ed. Heller, Greifswald, 1900.

Haribhadra : *Dhūrtākhyāna,* ed. Jinavijaya, with a study by Upadhye, Bombay (Singhi Jain Series), 1944.

Harivaṃśa, ed. and translated by Langlois, Paris/London (Oriental Translation Fund), 1834–5 (2 vols. in 3 parts).

R. C. Hazra : *Studies in the Upapurāṇas.* Calcutta (Sanskrit College Research Series), 1958, 1963, Vol. III in preparation.

Hemacandra : *Dvyāśraya,* ed. Kathavate, Sanskrit part Bombay, 1885 and 1915 (2 vols.), Prakrit part Poona (Bombay Sanskrit Series), 1900.

———: *Pariśiṣṭaparvan* (appendix to *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita,* it is also called *Sthavirāvalīcarita*), ed. Jacobi, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1883–91; extracts translated by Hertel, Leipzig, 1908.

Hemādri : *Caturvargacintāmaṇi,* ed. Bharata Candra and others, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1873–1911 (not completed).

Hoysalarājakulavaṃśa (Mackenzie General Collection, India Office Library, London, Vol. III, pp. 118–130).

Hoysalarājavijaya (Mackenzie Collection, III, 53–62).

Iḷaṅgō, see under *Śilappadikāram.*

Indragāthās (e.g. *Ṛgvedasaṃhitā* II. 11, 12, 13, 14, 15, 19, 20; IV. 19, 26; see *Ṛgvedasaṃhitā*).

Itihāsa, see under *Mahābhārata, Purāṇas.*

Jagadvilāsa (see Tod, I, p. xvii).

Jagajjyotirmalla : *Narapatijayacaryāṭīkā* (MS in Nepal Government or Darbar Library).

Jagannātha : *Śarabharājavilāsa* (MS in Tanjore).

Jagnaik Rāo : *Ālhā Rāso,* ed. Thakur Das and C. Elliot, 1865; partly translated by Waterfield, ***Calcutta Review,*** 41–3 (1875–7), as ***The Nine Lākh Chain,*** or *The Mārō Feud,* and reprinted by Grierson, 1923, as *The Lay of Ālhā.*

Jakkana : *Vikramārkacarita* (Telugu)

Jācīka Jīvaṇa : *Pratāparāso,* ed. M. Gupta, Jodhapura (Rājasthān Purātana Granthamālā), 1965.

Jambudvīpaprajñapti, ed. Bombay (Devcand Lālbhāī Jaina Pustakoddhāra), 1920.

Jātaka, ed. Fausbøll, London, 1877–96 (6 vols.), recently reprinted by the Pali Text Society; translated (with most of the Commentary) by Cowell, Chalmers, Rouse, Francis and Neil, Cambridge 1895–1907 (reprinted by the Pali Text Society, London, 1957). See under *Aṭṭhakathā* or the *Nidānakathā.*

Jayacandra : *Bhāratīya Itihāsa Ki Rūparekhā,* 1933.

Jayānaka : *Pṛthvīrājavijaya,* ed. G. S. H. Ojha, Ajmer, 1941 (with

Jonarāja's commentary).
Jayangoṇḍār : *Kalingattupparaṇi* (Tamil), ed. K. Gopala Aiyar, Madras, 1923.
Jayarāma : *Parṇālaparvatagrahaṇākhyāna*, ed. S. M. Divekar, 1923.
——: *Rādhāmādhavavilāsa*, ed. V. K. Rājwade, 1922.
Jayavilāsa (see Tod, I, p. xvii).
Jayasī : *Padmāvatī*, ed. Ram Candra Shukla, Banāras (Nāgarī Pracāriṇ Sabhā), 1924; partly ed. Grierson and S. Dvivedi, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1896–1911, with a translation, and continued by Lakshmi Dhar, London (Luzac), 1949, with translation; complete translation by A. G. Shirreff, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1944.
Jayasiṃha (I) : *Hammīramadamardana*, ed. Dalal, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1920.
Jayasiṃha (II) : *Kumārapālabhūpālacarita*, ed. Kṣāntivijaya, Bombay (Nirṇaya Sāgara Press), 1926.
Jayasiṃha II. Kacchavāha (of Ambāvatī) : *Kalpadruma*, ed. Ratnākara, Bombay (Lakṣmī Veṅkṭ. Press), 1915.
K. P. Jayaswal : *Hindu Polity*, 1924-- 3rd ed. Bangalore (Printing and Publishing Co.), 1955.
———: *History of India from* 150 *A.D. to* 350 *A.D.*, Lahore (Motilal Banarsidass), 1933.
———: *An Imperial History of India* (from the *Mañjuśrīmūlakalpa*), Lahore (Motilal Banarsidass), 1934.
Jinabhadra : *Prabandhāvalī* (in *Purātanaprabandhasaṃgraha*, q.v.).
Jinamaṇḍana : *Kumārapālaprabandha*, ed. Caturavijaya, Bhāvnagar, 1913.
Jinaprabha : *Vividhatīrthakalpa*, ed. Jinavijaya, Calcutta (Singhi Jain Series), 1934.
———: *Pāṭaliputrakalpa*
Jinasena (I) : Harivaṃśapurāṇa, Bombay (Māṇikyacandra Digambara Jain Granthamālā), 1930.
Jinasena (II) : *Ādipurāṇa*, Vārāṇasī (Bhāratīya Jñānapīṭha), 1951.
Jñātādharmakathā, Bombay (Āgamodaya Samiti), 1919.
Jonarāja : *Dvitīya Rājataraṅgiṇī* (supplement to Kalhaṇa), ed. P. Peterson, Bombay (Sanskrit Series), 1896; new edn. by Vishva Bandhu, Vishveshvaranand Vedic Research Institute, *Hoshiarpur*, 1967.
———: commentary on *Pṛthvīrājavijaya*, see under Jayānaka.
Kakka : *Nābhinandanoddhāra*, in *Purātattva* Vol. IV.
Kālakācāryakathānaka (anon.), texts ed. Jacobi and Leumann in *Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft*, Vols. 34 and 37; *The Collection of Kālaka Story*, by Premchand Shah and Sarabhai Manilal Nawab, Ahmedabad (published by the authors), 1949 and 1958.
Kalhaṇa : *Rājataraṅgiṇī*, ed. Stein, 1892 (reprinted Delhi, Munshi Ram Manohar Lal, 1960), new edn. Vishva Bandhu, Hoshiarpur (Vishveshvaranand Vedic Research Institute), 1963; translated by Stein, Westminster, 1900 (reprinted Delhi, Motilal Banarsidass, 1961, 2 vols., but without the large map necessary for Stein's topographical identifications).

Kālikā Upapurāṇa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1907.
Kalpasūtra (including *Jinacarita*), ed. Jacobi, Leipzig, 1879; translated by Jacobi, London (Oxford University Press, Sacred Books of the East, Vol. XXII), 1884.
Karṇa : *Sūryaprakāśa*, ed. Sītārāma Lālasa, Jodhapura (Rājasthāna Purātana Granthamālā), 1961–3 (3 Vols.).
Karṇāṭaka Rājākkal Savistaracaritam (Tamil), MS in Madras.
Kathāvatthu, ed. Taylor, London (Pali Text Society), 1894–7 (2 vols.); translated by S. Z. Aung and C.A.F. Rhys Davids as ***Points of Controversy***, London (Pali Text Society), 1915 (since reprinted).
Kauṭalya : *Arthaśāstra*, ed. Gaṇapati, Trivandrum (Sanskrit Series), 1924–5 (3 vols.), with his own commentary; also ed. Kangle, Bombay (University), 1960; a fragment, with a fragment of an old commentary, ed. Kosambi, Bombay (Singhi Jain Series), 1959; translated by Kangle, Bombay (University), 1963.
Keralamāhātmya, Trichur, 1912 (sometimes said to be part of the *Brahmāṇḍa Purāṇa*; there are numerous *māhātmyas* of Kerala shrines).
·*Keralotpatti*, Mangalore, 1843.
Keśava : *Rājārāmacarita* (MS in Tanjore).
Khummāṇarāsa (anon), used by Tod.
Khyātas of various states in Rājasthān, see under Bāṃkīdāsa and Naiṇasī; there are many others, few of which are printed (Tod used some of Jaisalmeru, Marūsthalī and Medapāṭa, including Naiṇasī, others exist for Ambāvatī, etc.).
Koṅgudeśarājākkal (Tamil), Madras (Government Oriental Manuscript Series No. 6), 1950; translated by Taylor in the ***Madras Journal of Literature and Science***, Vol. XIV, 1847; see also Arokiaswami, ***The Koṅgu Country***, Madras (University), 1956.
M. Krishnamachariar : ***History of Classical Sanskrit Literature***, Poona (Oriental Book Agency), 1937.
Kṛṣṇakavi : ***Ratnamālā***, ed. in ***Râs Mâlâ***, see under Forbes.
Kṛṣṇaśarman : *Īśvaravilāsa*, ed. Mathurānātha, Jayapura (Rājasthāna Purātana Granthamālā), 1958.
Kṣemendra : ·*Kalāvilāsa, Darpadalana, Deśopadeśa, Narmamālā* and *Samayamātṛkā* all reprinted in *Minor Works of Kṣemendra*, ed. Rāghavāchārya and Padhye, Hyderabad (Osmania University), 1961—satirical works (his history of Kaśmīra, *Nṛpāvalī*, seems to have been lost).
Kṣudraka Āgama : the Pali ***Khuddaka Nikāya*** consists of about 15 texts, including the ***Jātaka*** and ***Buddhavaṃsa*** (q.v.); in Sanskrit and Chinese we have various texts, including several ***Avadānas*** (see ***Aśokāvadāna***).
Kumāra Dhūrjaṭi : *Kṛṣṇadevarāyavijayamu* (Telugu).
Kūrma Purāṇa, ed. N. Mukhopadhyaya, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1890.
Kutūhala : ***Līlāvaī***, ed. Upadhye, Bombay (Singhi Jain Series), 1949.
Lakṣmaṇaśāstrin : ***Guruvaṃśa***, ed. Kunigal Rama Sastrigal, Srirangam (Sri Vani Vilas Sanskrit Series, No. 12), no date (Vol. I Contains Cantos I–VII, no more seems to have appeared).

Lalitavistara, ed. Lefmann, Halle, 1902–8 (reprinted by Vaidya, Dārbhāṅgā, Buddhist Sanskrit Texts, 1958); translated by Foucaux in 2 vols, Paris (Annales du Musée Guimet), 1884–92.

Lāl Kavi : *Chatraprakāśa* (Braj) (Vani Vilas Series No. 12, no date).

Liṅga Purāṇa, ed, J. Vidyāsāgara, Calcutta, 1885.

Mādalā Pāñji (Oriya), ed. A. Mohanty (Prachi Samiti).

Mādhavānalakāmakandalā Prabandha and *Mādhavānalākhyāna* (of Ānandadhara), etc., ed. M. R. Majmudar, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1942.

Maduraittalavaralāṟu (Tamil), a version included with other records in William Taylor's *Oriental Historical Manuscripts*, 1835 (2 vols.), with translations; better edn. in Sen Tamil Publication No. 27 (with *Tiruppaṇimālai*), Madurai; see on this, and for discussions on various other texts, R. Sathyanatha Aiyar and S. Krishnaswami Aiyangar, *History of the Nayaks of Madura*, London (Oxford University Press), 1924, especially Appendix E.

Mahābhārata (of 'Vyāsa' or Kṛṣṇa Dvaipāyana), critical edn. by Sukthankar and others, Poona (Bhandarkar Oriental Research Institute), 1933–66; translated (from an earlier and much inferior edn.) by P. C. Roy, Calcutta, 1884; the available commentaries are all relatively late, the most important being those of Devabodha (on the Northern recension, not yet printed and perhaps no longer completely extant) and Vādirāja (on the Southern recension, ed. P.P.S. Shastri with his edn. of the latter, Madras, Ramaswami Sastrulu, 1931ff.).

Mahālodhivaṃsa.(by Upatissa), ed. Strong, London (Pali Text Society), 1891.

Mahānāma : *Mahāvaṃsa*, ed. Geiger, London (Pali Text Society), 1908 (reprinted 1958); translated by Geiger, Colombo (Government of Ceylon), 1912 (reprinted 1950).

Mahāvaṃsa Ṭīkā (anon), see under *Vaṃsatthapakāsinī*.

Mahāvastu, ed. Senart, Paris, 1882-97 (3 vols.); translated by Jones, London (Pali Text Society), 1949–56 (3 vols).

Mahotsavakhaṇḍa = *Mahobā Khaṇḍ* = *Paramaidirāsa*, incorporated in the *Pṛthvīrājarāsa*, see under Candra.

Majumdar : *The Classical Accounts of India*, Calcutta (Mukhopadhyay), 1960.

Mallanāga Vātsyāyana : *Kāmasūtra*, ed. Dāmodara, Benares (Kashi Sanskrit Series), 1929, with Yaśodhara's commentary *Jayamaṅgala;* English translation by pandits revised by Burton and Arbuthnot, reprinted London (Champion), 1963; more accurate German translation (with the commentary as well) by R. Schmidt, Berlin (Barsdorf), 6th edn. 1920.

Mānacarita (used by Tod : I p. xvii).

Mañjuśrīmūlakalpa, ed. Gaṇapati, Trivandrum (Sanskrit Series), 1920–5 (3 vols.); reprinted Darbhanga (Buddhist Sanskrit Texts No. 18), 1964; the historical section *Rājavyākaraṇaparivarta* ed. R. Sāṅkṛtyā-

yana and translated by K. P. Jayaswal in the latter's *An Imperial History of India*, Lahore (Motilal Banarsidass), 1934.

Mārkaṇḍeya Purāṇa, ed. K. M. Banerjee, Calcutta, 1855–62; also Bombay (Kṣemarāja Śrīkṛṣṇadāsa: Śrīveṅkaṭeśvara Stīm Press), no date; translated by Pargiter, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1888–1905, reprinted Varanasi (Indological Book House), 1969.

Mātṛceṭa: *Mahārājakani(ṣ)kalekha*, ed. in Tibetan and translated by F. W. Thomas, Bombay (*Indian Antiquary*), 1903.

Matsya Purāṇa, ed. J. Vidyāsāgara, Calcutta, 1876; also ed. H. N. Apte, Poona (Ānandāśrama), 1907; translation (anon.) Allahabad (Sacred Books of the Hindus), 1916–7 (2 vols.); see Ramacandra Dikshitar, *The Matsya Purāṇa, a Study*, Madras, 1925.

Mayūravarmacaritra (anon.), MS in India Office Library, London.

Merutuṅga: *Prabandhacintāmaṇi*, new edn. by Jinavijaya, Calcutta (Singhi Jain Series), 1933; translated by Tawney, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1894–1901.

———: *Vicāraśreṇī*, in *Jaina Sāhitya Saṃśodhaka* for May 1925.

Nāgārjuna: *Ratnāvalī Rājaparikathā*, Sanskrit fragments ed. and translated by Tucci, London (*Journal of the Royal Asiatic Society*), 1934 and 1936; complete text in the Tibetan *Tripiṭaka*, with Ajitamitra's commentary.

Naiṇasī: *Khyāta*, ed. Badarīprasāda Sākariyā, Jodhapura (Rājasthān Oriental Research Institute), 1960ff. (4 vols.); partly translated by R. N. Dūgad, Banaras (Nāgarī Pracāriṇī), 1924.

Nakkīrar: commentary on Iṛaiyanār's *Ahapporuḷ*, both ed. Madras (Bhavanandam Academy), 1939.

Nālha: *Vigraharājarāsa* = *Vīsaladeva Rāso*, ed. S. Varma, Banaras, 1924.

Nallā (Bhūmināthа): *Dharmavijaya* (MS in Tanjore).

Nandī new edn. by Puṇyavijaya, Mālvaṇiā and Bhojak, Bombay (Jaina Āgama Series No. 1, Shri Mahāvīra Jaina Vidyālaya), 1968.

Nandikkalambakam (anon., Tamil).

Nārada Purāṇa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1923.

Nārāśaṃsīs (e.g. *Ṛgvedasaṃhitā* I. 51, 53, 54, 112; VI. 27; see *Ṛgvedasaṃhitā*).

Nārasiṃha Upapurāṇa (or *Nṛsiṃha U.*), ed. Uddhavācārya, Bombay (G. Narayan), 2nd edn. 1911 (see Hazra I, pp. 219ff.).

Nāṭyaśāstra (of 'Bharata'), ed. Baṭukanāthaśarman and Baladevopādhyāya, Benares (Kashi Sanskrit Series), 1929; different recension, with Abhinavagupta's commentary, ed. M. R. Kavi, K. S. Ramaswami and J. S. Pade, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1926–64 (4 vols., of which the second edn., 1956, of Vol. I should be used).

Nayacandra: *Hammīramahākāvya*, ed. N. K. Kirtane, Bombay, 1879.

Nidānakathā, see under ***Aṭṭhakathā***.

Nīlakaṇṭha: ***Kaliviḍambana***, ed. Durgāprasād and Parab, Bombay (Kāvyamālā in *Gucchaka* 5), 1937.

Nīlamata Purāṇa, ed. de Vreese, Leiden (Brill), 1936.

Ojhā : *Rājpūtānekā Itihās* (1917—?), Ajmer, 1925–41 (5 vols.)
Oṭṭakkūttan : *Vikramaśoḷan Paraṇī* (lost ?).
——: *Kulōttungaśōḷan Piḷḷaittamiḷ.*
——: *Vikramaśōḷan Ulā.*
——: *Kulōttungaśōḷan Ulā.*
Padiṟṟuppattu, ed. V. Swaminatha Iyer, Madras, 1931.
Padmagupta : *Navasāhasāṅkacarita*, ed. Jitendracandra, Banaras (Vidyabhavan Sanskrit Granthamala), 1963.
Padmanābha : *Vīrabhadracampū* (MS—see *Peterson's Report* I, 101).
Padma Purāṇa, ed. V. N. Mandlik, Poona (Ānandāśrama), 1893–4 (4 vols.); ed. Kṣemarāja Śrīkṛṣṇadāsa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1884.
Pampa : *Vikramārjunavijaya* (Kannaḍa), ed. L. Rice, Bangalore (Bibliotheca Carnatica), 1898.
K. M. Panikkar : *A Survey of Indian History*, Delhi (Asia Publishing House), 1957; originally Bombay (National Information and Publications, Ltd.), 1947.
——: *Asia and Western Dominance*, London (Allen and Unwin), 1953.
Paramānanda : *Sūryavaṃśa*, first part ed. Divekar, Poona, 1926, as *Śivabhārata;* also by Puruṣottama and Vāsudeva, Puṇyā (Ānandāśrama), 1930; second part ed. G. S. Sardesai, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1952.
Paramardirāsa, see under *Mahotsavakhaṇḍa.*
Paramārtha, see Demiéville in *Mélanges Chinois et Bouddhiques* I, pp. 15ff., 'L'origine des sectes bouddhiques d'après Paramārtha', 1931–2.
Pargiter : *Ancient Indian Historical Tradition*, (originally London, Oxford University Press, 1922) reprinted Delhi (Motilal Banarsidass), 1962 (earlier Purāṇic history).
——: *The Purāṇa Text of the Dynasties of the Kali Age*, London (Oxford University Press), 1913 (text and translation, later Purāṇic history).
Pāriplavaṇi, see *Śatapathabrāhmaṇa* (q.v.) XIII. 4. 3.
V. S. Pathak : *Ancient Historians of India*, London (Asia Publishing House), 1966.
paṭṭāvalīs (and *gurvāvalīs*): there are many of these, of different lines (*gacchas*) of Jaina teachers, usually claiming direct succession from the Jina (Mahāvīra) himself or from his immediate followers, whils the *Upakeśagaccha Paṭṭāvalī* (17th century A.D. in its present form ?) starts from the preceding *jina* Pārśva and his follower Keśin (ed. Jinavijaya in the *Jaina Sāhitya Saṃśodhaka*, Vol. I; translated by Hoernle in the *Indian Antiquary*, 19, pp. 233–42); this and other *paṭṭāvalīs* are collected in *Paṭṭāvalīsamuccaya*, ed. Darśanavijaya, Bhāvnagar (Viramgam, Cāritrasmārakagranthamālā), 1933; Jinapāla's *Bṛhadgurvāvalī* of the Kharataragaccha is printed, Bombay (Singhi Jain Series), 1932, and a further collection of *paṭṭāvalīs* is promised in the same series.
Paṭṭinappālai, in *Pattuppāṭṭu* (q.v.).
Pattuppāṭṭu, ed. V. Swaminatha Iyer, Madras, 3rd edn. 1931.
Perumbāṇāṟṟuppaḍai, in *Pattuppāṭṭu* (q.v.).

piḍhiyāvalīs of Rājasthān, on these genealogies see Tessitori, *Journal of the Asiatic Society of Bengal,* 1919, p. 20.

Polvattē Vidānē: *Mahārājāvaliya* (Sinhalese), MS in London (British Museum Or. 6606/73).

Poygaiyār: *Kaḷavaḷi, translated* by V. Kanakasabhai in the *Indian Antiquary,* 18, pp. 259–65.

Prabhācandra: *Prabhāvakacarita,* ed. Jinavijaya, Calcutta (Singhi Jain Series), 1940.

Prājyabhaṭa: supplement to Kalhaṇa's (etc.) *Rājataraṅgiṇī,* ed. Peterson, Bombay (Sanskrit Series), 1896.

Pṛthvīrājarāsa, see under Candra.

Purāṇas: these have been entered separately under their titles; see Pargiter's works for their historical content; also Winternitz, *A History of Indian Literature,* Vol. I, Part II of the authorised English version, Calcutta (University), 1963, for a general survey of the individual *Purāṇas;* the traditional order of the 18 *Purāṇas* is as follows:

1. *Brahman* or *Brāhma.*
2. *Padma* or *Pādma.*
3. *Viṣṇu* or *Vaiṣṇava.*
4. *Vāyu* or *Vāyavīya.*
5. *Bhāgavata.*
6. *Nārada* or *Nāradīya.*
7. *Mārkaṇḍeya.*
8. *Agni* or *Āgneya.*
9. *Bhaviṣyant.*
10. *Brahmavaivarta.*
11. *Liṅga* or *Laiṅga.*
12. *Varāha* or *Vārāha.*
13. *Skanda* or *Skānda.*
14. *Vāmana.*
15. *Kūrma* or *Kaurma.*
16. *Matsya* or *Mātsya.*
17. *Garuḍa* or *Gāruḍa.*
18. *Brahmāṇḍa.*

(this is not the chronological order; most archaic appear Nos. 7, 3, 16 and perhaps 4, among the latest—perhaps 10th century A.D.—is No. 5; most of the manuscripts are full of interpolations and not much can be said of what texts are extant until the critical editions now planned are published; numerous *sthalapurāṇas* claim to belong to one or other of the *Purāṇas* and have often succeeded in getting incorporated into them; the *Nīlamata,* q.v., is a *sthalapurāṇa* of Kaśmīra and the *Svayambhū,* q.v., is a *sthalapurāṇa* of Nepāla).

Puraṇāṇūṟu, ed. V. Swaminatha Iyer, Madras, 1923.

Purātanaprabandhasaṃgraha, ed. Jinavijaya, Calcutta (Singhi Jain Series), 1936.

Raghavacaryulu, see under Bukkapatnam.

Rājanātha (II) : *Sāluvābhyudaya*, Madras.

Rājanātha (III) : *Acyutarāyābhyudaya*, cantos 1–6 ed. R. V. Krishnamachariar, Srirangam (Vāṇīvilāsa Press), 1907; cantos 7–12 ed. A. N. Krishna Aiyangar, Madras (Adyar Library Series), 1945.

Rājaprakāśa (used by Tod, I p. xvii).

Rājaśekhara (II) : *Prabandhakośa*, ed. Jinavijaya, Calcutta (Singhi Jain Series), 1935.

Rājāvaliyas (Sinhalese), one ed. Gunasekhara, Colombo, 1900; see Godakumbura, 'Historical Writing in Sinhalese', in *Historians of India*, ed. Philips, London (Oxford University Press), 1961, pp. 72ff.

Rājavilāsa (on Rājasiṃha Guhilaputra) by Māna, ed. Motilāla Menāriyā, Vārāṇasī (Nāgarīpracāriṇī Sabhā), 1957.

Rajwade : *Marāṭhyāñcya Itihāsācin Sādhanen*, Vols. I to XXII, Kolhapur, 1898–1917.

Rāmacandra (I) : *Nalavilāsa*, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1926.

———: an edition of his collected plays is promised by Puṇyavijaya.

Rāmacandra (II) : *Keralābharaṇa* (MS in Tanjore).

Rāmavarman (Svāti Tirunāl) : *Syānandūrapuravarṇana* (*campū* on legends connected with the Padmanābha Temple in Trivandrum/Anantaśayana, based on the *Anantapuramāhātmya*), Trivandrum, 1920.

Rāmavarmavijaya (anon.) : *campū* on Rāmavarman Svāti Tirunāl, see Paramesvara Iyer, *Keralasāhityacaritram* IV, p. 30.

Rāmāyaṇa (of Vālmīki), ed. Mudholkara, Bombay (Gujarati Printing Press), 1912–20 (7 vols., with three commentaries); a critical edn. is in progress, ed. G. H. Bhatt and others, Baroda (Oriental Institute), 1960ff.; translated by M. N. Dutt, Calcutta, 1892–4.

Ranade : *Rise of the Maráthá Power*, Bombay (Punalekar), 1900.

Râs Mâlâ see under Forbes.

Rāṭhoḍāṃrī Vaṃśāvalī, ed. Jinavijaya, Jodhapura (Rājasthāna Purātana Granthamālā).

Raṭṭhapāla : *Sahassavatthuppakaraṇa*, ed. Buddhadatta and Somadāsa, Ambalaṅgoda, 1959.

Ṛgvedasaṃhitā and *Brāhmaṇas* : *Saṃhitā*, ed. Aufrecht, Bonn (Marcus), 2nd edn. 1877 (2 vols.); translated by Griffith, reprint ('fourth edition') Varanasi (Chowkhamba Sanskrit Studies), 1963; *Aitareyabrāhmaṇa* ed. Aufrecht, Bonn (Marcus), 1879; *Kauṣītakibrāhmaṇa* ed. Lindner, Jena, 1887; both *Brāhmaṇas* translated by Keith, Cambridge Massachusetts (Harvard Oriental Series), 1920 (the *Dāśarajña*, *Indragāthās* and *Nārāśaṃsīs* have been noted separately above).

Rudra : *Rāṣṭrauḍhavaṃśa*, ed. Dalal, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1917; partly translated by de Bruyne, Leiden (Brill), 1968.

Sabhāsad : *Bakhar* = *Śivachatrapaticen Caritra*, ed. K. N. Sene, 4th edn. 1923.

Sakalavidyācakravartin : *Gadyakarṇāmṛta* (MS in Mysore and copy in London, School of Oriental and African Studies); see Derrett, *The Hoysalas*, London (Oxford University Press), 1957.

śakāvalīs (Marāṭhī annals) see Rājwade above, Vol. II (1900).
Śākyamunibuddhacarita (Chinese version Taishō 190), abbreviated translation by Beal as *The Romantic Legend of Śākya Buddha*, London (Trübner), 1875.
Samavāyāṅga, Bombay (Āgamodaya Samiti), 1916.
Sāmavedasaṃhitā and *Brāhmaṇas* : *Saṃhitā* (Kauthuma) ed. Sāmaśramin, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1871; (Jaiminīya) ed. Caland, Breslau (*Indische Forschungen*), 1907; *Tāṇḍya* (= *Pañcaviṃśa*, part of *Chāndogya*) *Brāhmaṇa*, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1870–4; the *Chāndogyopaniṣad*, also part of the *Chāndogya Brāhmaṇa*, has been entered separately.
Sāmba Upapurāṇa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1899 (see Hazra I, especially pp. 32ff.).
Saṃghadāsa : *Vasudevahiṇḍi*, ed. Caturavijaya and Puṇyavijaya, Bhāvanagara (Ātmānanda Jaina Granthāratnamālā), 1930–1.
Sandhyākaranandin : *Rāmacarita*, ed. R. C. Majumdar, R. Basak and N. Banerji, Rajshahi (Varendra Research Museum), 1939.
Śaṅkara : *Cetovilāsa* (MS in Oxford).
Sarvadevavilāsa (anon.), ed. Raghavan, Madras (Adyar Library Pamphlet Series No. 33), 1958.
Sarvānanda : *Jagaducarita*, ed. Bühler, Bombay (Indian Studies I), 1895.
Śatapathabrāhmaṇa (of the Vājasaneyin *Yajurveda*), edn. see under *Yajurveda*; translated by Eggeling, London (Oxford University Press, Sacred Books of the East), reprinted Delhi (Motilal Banarsidass), 1963 (5 vols.).
Sāttan : *Maṇimēkalai*, ed. V. Swaminatha Iyer, Madras, 1921 (see S. Krishnaswami Aiyangar, *Maṇimēkhalai in its Historical Setting*, London, Luzac, 1928).
Saura Upapurāṇa, ed. V. G. Apte, Poona (Ānandāśrama Series), 2nd edn. 1924.
Sauradharma (and *Uttara*) appears to be lost, see Hazra I, pp. 347ff.
Silappadikāram (supposed to be by Iḷaṅgō), ed. V. Swaminatha Iyer, Madras, 1924; translated by V. R. R. Dikshitar as *The Lay of the Anklet*, Oxford, 1939.
Siṃhāsanadvātriṃśikā, ed. and translated by F. Edgerton, Cambridge Massachusetts (Harvard Oriental Series), 1926 (2 vols.), as *Vikrama's Adventures*.
Sītārāma : *Jayavaṃśa*
Śivabhārata, Tamil translation of Paramānanda's *Sūryavaṃśa*, q.v.
Śivadharma (and *Uttara*), MSS in Calcutta, see Hazra I, pp. 113f., study promised in his third volume.
Skanda Purāṇa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1909–11 (7 vols.).
Soḍḍhala : *Udayasundarī*, ed. Dalal and E. Krishnamachariar, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1920 (this is a novel, but the author has given at the beginning and end some information on contemporary history and also a sketch of the history of *kāvya* literature).

Somadeva (I): *Yaśastilaka* = *Yaśodharamahārājacarita*, ed. Śivadatta. Paṇaśikar and Parab, Bombay (Kāvyamālā), 1901–3 (2 vols.), 2nd edn. of Vol. I in 1916; see Handiqui, *Yaśastilaka and Indian Culture*, Sholapur (Jīvarāja Jaina Granthamālā), 1949.

——: *Nītivākyāmṛta*, ed. P. Soni, Bombay (Māṇikyacandra Digambara Jaina Granthamālā), 1922; translated by Botto, Turin (Giappichelli), 1962.

Somanātha: *Vyāsayogicarita*, ed. Venkoba Rao, Bangalore (Srinivasa Murti), no date (1926 or later).

Somaprabha: *Kumārapālapratibodha* = *Jinadharmapratibodha*, ed. Jinavijaya, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1920.

M. Somasekhara: *History of the Reḍḍi Kingdoms*, Waltair (Āndhra University Series No. 38), 1948 (useful for historical literature of Āndhra).

Someśvara III Cālukya (Bhūlokamalla): *Vikramāṅkābhyudaya*, ed. M. L. Nagar, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1966.

——: Mānasollāsa = *Abhilaṣitārthacintāmaṇi*, ed. G. K. Shrigondekar, Baroda (Gaekwad's Oriental Series), 1925, 1939 (2 vols.)

Someśvara: *Kīrtikaumudī*, ed. Kathavate, Poona (Bombay Sanskrit Series), 1883.

——: *Surathotsava*, ed. Śivadatta and Parab, Bombay (Kāvyamālā), 1902.

Śrīnātha (I), see Somasekhara, *History of the Reḍḍi Kingdoms* (above), especially pp. 522ff. (*Bhīmeśvara Purāṇa*, *Kāśikhaṇḍa*), 3ff., 12 (*cāṭus*).

Śrīnātha (II): *Vaṃśāvalī* (*Buranji*) of the Svarga Dynasty (Āhoms), *Tungkhungia Buranji*, translated by S. K. Bhuyan, London (Oxford University Press), 1933.

Śrīrangamkōyiloḻugu (Tamil: history of the Śrīraṅga Temple).

Śrīvara: *Jainarājataraṅgiṇī* (supplement to Jonarāja on King Jainollābhadīna), ed. S. Kaul, Hoshiarpur (Vishveshvaranand Institute), 1966.

sthalapurāṇas, e.g. *Bṛhadīśvaramāhātmya* (Tanjore), *Keralamāhātmya* (and *Keralotpatti*, on Kerala), *Nīlamata* (Kaśmīra) and *Svayambhū* (Nepāla), all of which have been noted separately; hundreds of others exist, especially in the South, including Āndhra, Karṇāṭaka and Kaliṅga).

Sthānāṅga, Bombay (Āgamodaya Samiti), 1918–20 (2 vols.).

Śuka: *Rājataraṅgiṇī* (supplement to Śrīvara), ed. S. Kaul, Hoshiarpur (Vishveshvaranand Institute), 1966.

Sumaṅgala, see under *Cūlavaṃsa* (third part).

Sūtrapiṭaka, consists of *Dīrgha* (Pali *Dīgha*), *Madhyama*, *Saṃyukta*, *Ekottara* and *Kṣudraka Āgamas* (Pali *Nikāyas*).

Suvrata (outline history of Kaśmīra, used by Kalhaṇa, apparently lost).

Svayambhū Purāṇa, ed. Haraprasād, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1894–1900 (*Bṛhat*—); MS of a different recension in Paris (Bibliothèque Nationale).

Tāranātha: *Rgya Gar Chos-ḥbyung*, his main work, translated by Schiefner as *Geschichte des Buddhismus in Indien*, St. Petersburg (Imperial Academy of Sciences), 1869.

———: *Bkaḥ Babs Bdun Ldan*, translated by Grünwedel as *Edelsteinmine* (equivalent to *ratnākara*), Petrograd (Bibliotheca Buddhica), 1914.

L. P. Tessitori, articles in the *Journal of the Asiatic Society of Bengal*, Calcutta, 1914–9, on the 'bardic' poetry of Rājasthān.

Tikkaya: *Mahābhāratamu* (Telugu, which was begun by Nannaya), Madras (Ramasvami), 1924–9.

Tirumalāmbā: *Varadāmbikāpariṇaya*, ed. L. Sarup, Lahore, 1938.

Tod: *Annals and Antiquities of Rajast'han*, originally published 1829 and 1832, London (Routledge and Kegan Paul), 1957 (2 vols.).

Tripiṭaka, consists of *Sūtrapiṭaka*, *Vinayapiṭaka* and *Abhidharmapiṭaka* (q.v.).

Upapurāṇas (and '*Śāstras*'): some of these have been entered separately; see the work of Hazra, *Studies in the Upapurāṇas* (above) for discussions of their nature and number and for reviews of the contents of the individual texts; of the traditional list (established in the 8th century A.D.?) of eighteen *Upapurāṇas* more than half seem to be lost, though little effort has been made to print them and more might be found, on the other hand many more have been composed later, especially to present Śākta views, which are not noted here; the three (or six) '*Śāstras*' are sometimes confused with and referred to as *Upapurāṇas*, though they seem to have been recognised earlier as part of the *Jaya* ('Victory', i.e. the *Mahābhārata* and texts connected with it—see Hazra I, p. 347), along with the 18 *Purāṇas* and the *Rāmacarita* (*Rāmāyaṇa*), they are:

Viṣṇudharma (and *Viṣṇudharmottara*),
Śivadharma (and *Śivadharmottara*),
Sauradharma (and *Sauradharmottara*),

which have been entered separately: the traditional 18 *Upapurāṇas* appear to have been the following (the lists are not as unanimous as those of the 18 (*Mahā*)*purāṇas*, they are found in some of the latter as well as elsewhere, see Hazra I, pp. 4ff.):

1. *Ādya* or *Sanatkumārīya* (alternative names).
2. *Nārasiṃha* or *Nṛsiṃha*.
3. *Nānda* or *Nandin* (alternative *Śaukra*).
4. *Śiva* or *Śaiva* or *Nandīśa* (alternative *Bārhaspatya*).
5. *Daurvāsasa* or *Durvāsa*.
6. *Nāradīya* (different from the *Mahāpurāṇa*).
7. *Kāpila*.
8. *Mānava*.
9. *Auśanasa*.
10. *Brahmāṇḍa* (different from the *Mahāpurāṇa*).
11. *Vāruṇa*.
12. *Kālikā*.
13. *Māheśvara* or *Vāśiṣṭha* (alternative names).
14. *Sāmba*.
15. *Āditya* or *Saura* (alternative names).

16. *Pārāśarya.*
17. *Mārīca.*
18. *Bhārgava.*

(Nos. 2, 3, 14 and 15 seem to have been the earliest, being mentioned alone in the *Matsya Purāṇa*).

Vaidyanātha : *Tārācandrodaya* (MS, Aufrecht *Cat.* 229).

Vaiṣṇava, see *Viṣṇu.*

Vākpatirāja : *Gauḍavadha*, ed. Pandurang, 2nd edn. revised by Utgikar, Poona (Oriental Research Institute, Bombay Sanskrit and Prakrit Series No. 34), 1927.

Vāmana (II) : *Vemabhūpālacarita* = *Vīranārāyaṇacarita*, ed. R. V. Krishnamachariar, Srirangam (Sri Vani Vilasa Sanskrit Series No. 16), 1910.

Vāmana Purāṇa, critical edition by A. S. Gupta, Varanasi (All–India Kashiraj Trust), 1967; translated by S. M. Mukhopadhyaya and others, ibid., 1968.

Vaṃsatthapakāsinī (anon. *ṭīkā* on *Mahāvaṃsa*), ed. Malalasekera, London (Pali Text Society), 1935 (2 vols.).

Vaṃśāvalīs (this term seems to have been in universal use for king lists connecting with Purāṇic antiquity, in which a varying amount of historical information may be recorded, the best known extant examples being those of Āndhra, Assam, Campā, Kaliṅga (Orissa), Kulūta, Maṇḍi, Nepāla, Nūrpura, Rājasthān and Trigarta (Kāṅgra); the rājāvalīs of Ceylon may be compared with these, as well as the *piḍhiyāvalīs* of Rājasthan; the *vaṃśāvalīs* of the Marāṭhas written in Tanjore by Gaṅgādhara and Veṅkaṭeśvara evidently derive from the tradition and no doubt other examples could be found; the *vaṃśāvalīs* of Assam show best how the form could be indefinitely expanded into elaborate histories; the *vaṃsa* literature of Ceylon in Pali likewise shows the same basis, moreover it was introduced into Burma, which produced its own *Rājavaṃsa*, and other countries of South East Asia; cf. again the *Rājataraṅgiṇīs* of Kaśmīra) :

Āndhra : *Velugōṭivāri Vaṃśāvaḷi*, ed. C. Virabhadrarao, see Somasekhara (above), pp. 11f.

Assam : *buranjis* (=*vaṃśāvalīs*); the number extant runs into hundreds, of which the Department of Historical and Antiquarian Studies, Assam, has published a series, mostly ed. by S. K. Bhuyan, including the *Assam Buranji* (1930), the *Kamrupar Buranji* (1930, 1958, this includes the ancient period), *Deodhai Asam Buranji* (1932, this is a collection of *buranjis*), etc.; Bhuyan's translation of Śrīnātha's work has been noted above under the author; the *Padshah Buranji* on the Turkish rulers of Ḍilli was published by the Kamarupa Anusandhan Samiti, Gauhati, in 1935 and translated by Bhuyan (Department of Historical and Antiquarian Studies, 1947); another collection, the *Satsari Assam Buranji*, was published by the University of Gauhati in 1960; Bhuyan has surveyed the *buranjis* in his *Studies*

in the Literature of Assam, Gauhati (Lawyer's Book Stall), 1962.

Kaliṅga (Orissa) : *Kaṭaka Rājavaṃśāvalī* (quoted by Venkataramanayya, *Further Sources*..., see below).

———: *Vaṃśāvalī, Journal of the Asiatic Society*, Vol. VI part ii, pp. 756ff., 1837 (found among Stirling's posthumous papers, see his 'Orissa : Chronology and History', *Asiatic Researches* Vol. 15, 1822, reprinted in *A History of Orissa*, Calcutta (Susil Gupta), 1956, Vol. II, especially p. 225).

Nepāla : *Gopālarāja Vaṃśāvalī* ed. Regmi in *Medieval Nepal*, Vol. III, pp. 112 ff. (14th century, from Darbar Library).

———: *Vaṃśāvalī* ed. Regmi in *Medieval Nepal*, Vol. III, pp. 158 ff. (14th century, from library of Field Marshall Kaisar, apparently used by Kirkpatrick in his *Account of Nepaul*, London, 1811).

———: *Vaṃśāvalī* (Śaiva) by Siddhi Nārāyaṇa used by Lévi in his *Le Népal*, Paris, 1905 (see Regmi, *Medieval Nepal*, 29ff., for this and the following texts).

———: *Vaṃśāvalī* (Buddhist) by Guvāju, translated by Munshi Shewasankar and D. Wright, Cambridge, 1877 (reprinted 1960).

———: *Vaṃśāvalī* in Sanskrit verse in possession of Dr. Regmi (another in possession of Tucci ?).

———: *Vaṃśāvalī* in Nepālī in possession of Dr. Regmi.

———: *Vaṃśāvalī* MSS in London (India Office Library) and Cambridge (University Library).

———: *Gorkha Vaṃśāvalī* (Nepālī) published by Mahant Narharinath. (to supplement these there are numerous diaries, *thyāsapus*, preserved from the later medieval period, see Regmi, *Medieval Nepal*, Vol. II, pp. 12 ff., a selection of these has been ed. by Regmi in Medieval Nepal Vol. III, part 2, pp. 1 ff., Calcutta, Mukhopadhyay, 1966).

Rājasthān : e.g. *Rāṭhoḍāṃrī Vaṃśāvalī*, entered above; there is likewise a *Sisodiyā Vaṃśāvalī* (MS in Udayapura).

Varāha Purāṇa, ed. Hṛṣīkeśa, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1893.

Vāsudevaratha : *Gaṅgavaṃśānucarita* (MS in Madras).

Vasumitra : *Samayabhedoparacanacakra* (in Tibetan *Tripiṭaka* and Chinese Taishō 2031), translated by Bareau, Paris (*Journal Asiatique*, 1954, pp. 235 ff.).

Vāyu Purāṇa, ed. Gaṅgāviṣṇu Śrīkṛṣṇadāsa, Kalyāṇa/Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1933; ed. H. N. Apte, Poona (Ānandāśrama), 1905; also ed. R. Mitra, Calcutta (Bibliotheca Indica), 1880-8 (2 vols).

Veda : see under *Ṛgvedasaṃhitā*, etc., *Sāmavedasaṃhitā*, etc., *Yajurvedasaṃhitā*, etc. and *Atharvavedasaṃhitā*, etc.

Veṅkaṭādhvarin : *Viśvaguṇādarśa*, ed. Surendranātha, Vārāṇasī (Vidyābhavana Saṃskṛta Granthamālā), 1963.

N. Venkataramanayya : *Further Sources of Vijayanagara History*, Madras (University Historical Series), 1946.

Veṅkaṭeśa (Ayyāvāḷ) : *Sāhendravilāsa*, ed. Raghavan, Tanjore, 1952.

Veṅkaṭeśvara : *Bhosalavaṃśāvalī* (MS in Tanjore).

Vetālapañcaviṃśati (anon.), exists in several versions, of which the most important seem to be by 1) Somadeva (II) in his *Kathāsaritsāgara*, Book XII, ed. Durgāprasāda and Parab, Bombay (Nirṇaya Sāgara), 1903; 2) Śivadāsa, ed. Uhle, Leipzig (Abhandlungen für die Kunde des Morgenlandes), 1884 and Leipzig (*Berichte Sächsischen Gesellschaft Wissenschaften*), 1914; 3) Jambhaladatta, ed. Emeneau, New Haven (American Oriental Society), 1934, with translation.

Vibhāgaratnamālā (anon. or by a Ḍiṇḍima ?), ed. and translated by T. Gopinatharow in the *Indian Antiquary*, 47, pp. 83 ff.

Vidyācakravartin (II) : see Sakalavidyācakravartin.

Vidyācakravartin (III) : *Rukmiṇīkalyāṇa* (MS in Madras).

———: *Sañjīvanī* (commentary on Ruyyaka's *Alaṃkārasarvasva*), ed. Janaki and Raghavan, Delhi (Meharchand Lachhmandas), 1965.

———: *Sampradāyaprakāśinī* (commentary on Mammaṭa's *Kāvyaprakāśa*), Trivandrum (Sanskrit Series Nos. 88 and 100).

Vidyāpati : *Puruṣaparīkṣā*, ed. and translated by Nerulkar, Bombay, 1914; also translated Grierson, London (Royal Asiatic Society), 1935, as *The Test of a Man.*

———: *Kīrtilatā* (Apabhraṃśa), ed. Haraprasāda and translated, Calcutta, 1924.

Vidyāraṇya : *Rājakālanirṇaya* (MS in Madras).

——— : *Vidyāraṇyakālajñāna*, Mysore (Archaeological Report), 1932 (see Krishnamachariar, *History of Classical Sanskrit Literature*, pp. 228aff.).

Vimala : *Padmacarita* (*Paümacariya*), ed. Jacobi, Bhāvanagara, 1914; new edn., revised by Puṇyavijaya, Vol. I, Varanasi (Prakrit Text Society), 1962, Vol. II, Ahmedabad, 1968.

Vinaya Piṭaka, Pali ed. *Oldenberg*, London, 1879-83 in 5 vols., recently reprinted by the Pali Text Society; translated by I. B. Horner, London, Pali Text Society, 1938-66 in 6 vols.; Sanskrit (Mūlasarvāstivādin) *Vinayavastu* partly ed. Dutt in *Gilgit Manuscripts* III, parts 1–4, Srinagar and Calcutta, 1942–50; another part promised by Tucci in the Rome Oriental Series; *Mahāvastu* (q.v.) of Lokottaravādins; Chinese versions in Taishō *Tripiṭaka*, of Sarvāstivādins (1495–7 and 1441), of Dharmaguptakas (1428–31), of Mahīśāsaka 1421–4), of Mahāsaṃghikas (1425–7).

Vinītadeva : *Samayabhedoparacanacakre Nikāyabhedopadarśanasaṃgraha* (in Tibetan *Tripiṭaka*), translated by Bareau, Paris (*Journal Asiatique*, 1956, pp. 192ff.).

Vīraśōḻiyam (of Buddhamitra) commentary.

Virūpākṣa : *Colacampū*, ed. Raghavan, Tanjore (Sarasvati Mahal Series No. 55), no date.

Viśākhadatta : *Devīcandragupta*, see Raghavan, *The Social Play in Sanskrit*, Bangalore (Transaction No. 11 of The Indian Institute of Culture), March 1952, pp. 8ff. for an account of the fragments of this play, and his fuller account with quotations in *Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa*, Madras (Punarvasu), 1963, pp. 858ff.; the present writer hopes to

publish in a forthcoming work a revised interpretation of the fragments.
———: *Mudrārākṣasa,* ed. and translated by K. H. Dhruva, Poona (Oriental Book Agency), 1930 (3rd edn.).
Viṣṇudharma (and *Uttara*), manuscripts of the former in Calcutta, London (India Office Library), etc., see Hazra I, pp. 118ff.; the *Uttara* has been ed. by Kṣemarāja Śrīkṛṣṇadāsa, Bombay (Veṅkaṭeśvara Press), 1912.
Viṣṇu Purāṇa, ed. Vāsudevācārya, Bombay (Gopāla Nārāyaṇa), 1902; translated by H. H. Wilson, London, 1840, reprinted Calcutta (Punthi Pustak), 1961.
Viśveśvara (Gāgābhaṭṭa) : *Kāyasthadharmapradīpa.*
Vyākhyāprajñapti, Bombay (Āgamodaya Samiti), 1918–21 (3 vols.).
Yajurvedasaṃhitās and *Brāhmaṇas* : *Taittirīyasaṃhitā* ed. Weber, Berlin (*Indische Studien*), 1871–2; translated by Keith, Cambridge Massachusetts (Harvard Oriental Series), 1914 (2 vols.); *Vājasaneyin* (including *Brāhmaṇa*) ed. Weber, Berlin/London (Williams and Norgate), 1852–9 (3 vols.); partly translated by Griffith, Benares, 1899 (for a translation of the *Śatapathabrāhmaṇa* see separate entry above); *Taittirīyabrāhmaṇa,* Calcutta (Bibliotheca Indica), 1855–90.
Yativṛṣabha : *Tiloyapaṇṇatti,* Sholapur ed. Upadhye and Jain (Jīvarāja Jaina Granthamālā), 1943–51 (2 vols.).
Yāyātika = *Mahābhārata* (q.v.) I, *adhyāyas* 70–88.
Yugapurāṇa (from the *Gārgīsaṃhitā*), ed. Mankad, Vallabhvidyanagar (Charutar Prakashan), 1951.

Historiography ⟷ India